UNIVERSAL LIBRARY

OU_186310

UNIVERSAL LIBRARY

OUP—68—11-1-68—2,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H80 V31A  Accession No. P.G. H1984

Author वर्मा, शिवशंकर, संपा.

Title आदर्श गद्य संग्रह. 1951.

This book should be returned on or before the date last marked below.

# आदर्श गद्य-संग्रह

( हाईस्कूल की कक्षाओं के लिए )

संपादक एवं संकलनकर्ता

शिवशंकर वर्मा, एम० ए०

प्रिंसिपल, के० एन० पी० एन० इण्टर कालेज,
मौरावाँ ( उन्नाव )

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९५१

मूल्य १॥)

Printed and Published by K. Mittra at the Indian
Press, Ltd., Allahabad.

# भूमिका

'आदर्श गद्य-सग्रह' हाईस्कूल के हिन्दी छात्र-छात्राओ के लिए प्रस्तुत किया गया है। इसे छात्रोपयोगी बनाने के लिए हर प्रकार की चेष्टा की गई है। लेखो के चयन मे पर्याप्त सतर्कता एव सावधानी से काम लिया गया है। सग्रह मे हिन्दी की प्राचीन एव आधुनिक गद्य-शैलियो के साक्षात्कार के साथ पाठ्यक्रम मे निर्धारित विभिन्न विषयो का सुरुचिपूर्ण ढग से समावेश किया गया है। निबध, कहानी, गद्यकाव्य, संलाप, नाटक, जीवनी, वैज्ञानिक लेखादि सभी प्रकार की आवश्यक एवं सुन्दर सामग्री इसमे सगृहीत है, जो छात्रो के सम्मुख राष्ट्र-प्रेम, सच्ची नागरिकता, चारित्रिक दृढता, त्याग एव शौर्य-पराक्रम का आदर्श उपस्थित कर उन्हे सुरुचि सम्पन्न एव सयत बनाकर शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति करती है।

प्रत्येक पाठ के प्रारम्भ मे लेखक के सक्षिप्त परिचय एव लेखनशैली पर प्रकाश डाला गया है और प्रत्येक पाठ के अत म अभ्यासार्थ कुछ प्रश्न दे दिये गये है। पुस्तक के अत मे क्लिष्ट शब्दों के अर्थ एव अन्य आवश्यक टिप्पणियाँ देकर कठिन स्थलो को सुबोध बनाने का भी प्रयास किया गया है।

अत मे, हम उन सभी लेखकों एव प्रकाशको के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते है, जिनकी सुन्दर कृतियो का इसमे उपयोग किया गया है। हमारा यह दृढ विश्वास है कि 'आदर्श गद्य-संग्रह' विद्यार्थियों के हृदय मे राष्ट्र एव राष्ट्रभाषा के प्रति सच्चा प्रेम एव सम्मान की भावना जागृत् करने मे समर्थ होगा।

——सम्पादक

# विषय-सूची


| | | |
|---|---|---|
| (१) | सन्देश—माननीय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन | १ |
| (२) | २६ जनवरी—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी | ४ |
| (३) | समाज और धर्म—माननीय श्री सम्पूर्णानन्द | ७ |
| (४) | दाँत—प० प्रतापनारायण मिश्र | १४ |
| (५) | सच्ची नागरिकता—माननीय श्रीप्रकाश .. | २० |
| (६) | बातचीत—प० बालकृष्ण भट्ट | ३० |
| (७) | साहित्योपासक (कहानी)—मुन्शी प्रेमचन्द | ३८ |
| (८) | विजयादशमी—काका कालेलकर | ५४ |
| (९) | सूरदास—डा० श्यामसुन्दरदास | ६१ |
| (१०) | सच्चा धर्म (एकाकी)—श्री गोविन्ददास सेठ | ६९ |
| (११) | गोस्वामी तुलसीदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल | ८० |
| (१२) | रेडियम—श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव . | ९० |
| (१३) | साहित्य की महत्ता—आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी | ९७ |
| (१४) | हीरा और कोयला (सलाप)—श्री राय कृष्णदास | १०३ |
| (१५) | कवि-सम्मेलन—श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी .. | १०८ |
| (१६) | कवीन्द्र रवीन्द्र—बाबू गुलाबराय . | १२० |
| (१७) | मधूलिका (कहानी)—श्री जयशंकर 'प्रसाद' ... | १२८ |
| (१८) | राष्ट्रमाता की एक झलक—श्रीमती सत्यवती मल्लिक | १४५ |
| (१९) | काश्मीर-यात्रा—श्रीमती महादेवी वर्मा ... | १५४ |
| (२०) | परिश्रान्त पथिक (गद्यकाव्य)—श्री वियोगी हरि | १६२ |
| | टिप्पणी | १६६ |

# १—सन्देश

## माननीय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन

हिन्दी के अमर नेता राजर्षि टंडनजी का जन्म संवत् १९३९ में हुआ। स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट तथा महामना मालवीय के संयोग से आपके हृदय में हिन्दी-प्रेम का बीज क्रमशः अंकुरित और पल्लवित होकर दृढ़ वट-वृक्ष के समान स्थायी तथा सुखदायी सिद्ध हुआ। प्रारम्भ में आपने 'अभ्युदय' के संपादकत्व का कार्य अपनाया। तब से आप बराबर हिन्दी-साहित्य तथा नागरी लिपि के प्रचार में कटिबद्ध रहे हैं। प्रान्त में हिन्दी राजभाषा घोषित कराने में तथा भारतीय विधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकृत कराने में आपका महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तो आपके परिश्रम तथा आशीर्वाद का प्रत्यक्ष प्रतीक है। भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में आप सदैव अगली पंक्ति में रहे हैं। इस वर्ष भारतीय कांग्रेस ने आपको अध्यक्ष चुनकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है।

सक्रिय राजनीति में सतत भाग लेते रहने के कारण आप स्वयं अधिक न लिख सके, किन्तु आपने न जाने कितने लेखकों तथा संस्थाओं को नवीन प्रेरणा प्रदान की है। जो कुछ आपने लिखा है, उसमें आपके कर्मठ तपस्वी व्यक्तित्व की अमिट छाप है। आपकी भाषा बड़ी परिमार्जित तथा शक्तिशाली है। आपकी भाषा में वही आवेग तथा गति है, जो प्रायः आपके ओजस्वी भाषणों में मिलती है। छोटे छोटे वाक्यों में आपकी विचारधारा बड़ी ही भावुक गति से अग्रसर होती है और उसमें एक चतुर

गद्य-शिल्पी की कला स्पष्ट रूप से मिलती है। व्याकरण-सम्मत भाषा के पक्षपाती होकर भी आप व्याकरण के कठोर बंधन के पक्षपाती नहीं हैं। इस प्रकार शब्दावली, वाक्य-निर्माण-प्रवाह, ओज, प्रभावोत्पादकता, गंभीर चिन्तन तथा संदेशवाहकता में आपकी शैली आपके प्रखर व्यक्तित्व के अनुरूप ही है।

हिन्दी-साहित्य-कानन में बड़े बड़े तेजस्वी पुरुषों की वाणी की झनकार हो रही है, किन्तु अब भी बहुत स्थान ऐसे हैं जहाँ इन नये प्रतिभाशाली गायकों और व्याख्याताओं के बसने की आवश्यकता है। यह समय भारतवर्ष के लिए महा परिवर्तन और बड़े महत्त्व का है। यही आपका अवसर है। मनुष्य के और देश के भाग्य में ऐसे अवसर बार बार नहीं आते, जब वह अपने विचारों और कृत्यों से संसार का मानसिक प्रवाह बदल दे। आपको बड़े सौभाग्य से यह अवसर प्राप्त हुआ है। आप केवल हमारे साहित्य-कानन के इन रिक्त स्थानों को ले सकते हैं, किन्तु यहाँ नितान्त नये नादों से विप्लव मचा सकते हैं। सबसे पहली बात यह स्मरण रखिए कि यों तो इस वन में सभी तरह की मोहिनी ध्वनियाँ गूँज रही हैं; किन्तु वास्तविक आदर उन्हीं को मिलता है, जो अकृत्रिम रूप से ब्रह्माण्ड के नैसर्गिक संगीत के स्वरों में मिलकर ध्वनित होती हैं। कृत्रिमता छोड़िए, भावुकता संग्रह कीजिए। सूर्य-सी नैसर्गिक ज्योति का सौंदर्य पहाड़ों और जंगलों में स्वतः दिखाई पड़ता है। हरे, लाल और पीले काँच के टुकड़ों की उसे आवश्यकता नहीं। बिजली की ज्योति को सुन्दर बनाने के लिए आप भले ही अपने काँच के टुकड़े भिन्न-भिन्न रंगों से रँगें और उनको भिन्न भिन्न आभूषणों से भूषित करें; किन्तु सूर्य की ज्योति इन कृत्रिम आभूषणों का तिरस्कार करती है। सती का शृंगार

आभूषणों पर न निर्भर है और न उससे बढ़ता ही है। स्वाभाविकता ही उसका जौहर है।

वाणी की सार्थकता इसी में है कि वह आकाश में सीढ़ी बाँधकर मनुष्य को उस स्थान पर चढ़ा दे, जहाँ से वाणी का उद्गार हुआ है। यदि वाणी ने मनुष्य को लुभाकर नीचे कीच में घसीटकर डाल दिया, तो उसका सौंदर्य क्षण भर के लिए भले ही लुभा ले; किन्तु उच्च पुरुषों के सामने आदर नहीं पा सकता। आप अपनी वाणी का ऊँचा अदर्श रखें। वह पवित्र कुल की पुत्री है, उसका शृङ्गार नैसर्गिक मालती और मल्लिका से ही कर उसका पूजन करें। सुनारों के भड़कीले आभूषणों को दूर ही रखें। भारतवर्ष के इस परिवर्तन-काल में ऐसे उपासकों की आवश्यकता है, जो अपनी वाणी से स्वतंत्रता का नाद देश में भर दें। नगर, ग्राम, जङ्गल और पहाड़ों से घृणित दुर्बलता और निर्वीर्यता को निकाल महाशक्ति की मूर्ति जनता के हृदय में स्थापित कर उसके पवित्र पूजन के लिए नृत्य और गान करें। निस्सार नीचे गिरानेवाले रसों और उन्हीं के समान पोच संचारी भावों, विभावों और अनुभावों को छोड़ नये रसों का प्रादुर्भाव कीजिए, उनके उपयुक्त संचारी भावों से उनको संचारित कीजिए, उनके उपयुक्त विभावों से उनका पोषण कीजिए और तब उनके परिणाम-स्वरूप महत् अनुभवों का दर्शन कर कृतार्थ होइए। इस साहित्य-कानन में जो रिक्त स्थान हैं, वहाँ इस समय ऐसे ही वीर प्रतिभा-सम्पन्न आकाश-मार्ग-गामी कवियों की आवश्यकता है।

## अभ्यास के लिए

(१) "कृत्रिमता छोड़िए, भावुकता संग्रह कीजिए" इस वाक्य से लेखक का क्या तात्पर्य है?

(२) वाणी की वास्तविक सार्थकता क्या है?
(३) भाषा में अलकारों का क्या स्थान है?
(४) "प्रतिभासम्पन्न आकाश-मार्गगामी कवि" से क्या तात्पर्य है?
(५) टंडनजी की लेखनशैली पर छोटा-सा निबन्ध लिखिए।
(६) टंडनजी ने "सदेश" में हमारे नवोदित लेखकों तथा कवियों को क्या सदेश दिया है?

---

## २—२६ जनवरी

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी का जन्म बलिया जिले में एक ग्राम में हुआ। आप सस्कृत, ज्योतिष-शास्त्र तथा बँगला के उद्भट विद्वान् है। कुछ दिन काशी में रहने के पश्चात् अब आप कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित विश्वभारती, शान्तिनिकेतन में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं।

आप इस युग के सर्वश्रेष्ठ समालोचकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आपकी आलोचनाएँ मौलिक तथा ठोस होती है। तुलसी, सूर, कबीर, विद्यापति, चडीदास आदि पर आपका विशेष अध्ययन है।

सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों पर भी आपने अपने विचार बड़े ही विशद ढग से प्रकट किए है। आपकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती है और बडे गहन विषय को सरल भाषा में प्रकट करने की आपमे अद्भुत शक्ति है।

सस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग आपकी भाषा में प्राय नही अखरता। यदाकदा व्यग्यपूर्ण तथा काव्यमयी शैली से आपका गद्य अलकृत रहता है।

आप अकाट्य युक्तियों द्वारा अपने प्रश्न का समर्थन करने मे पटु हैं और इस प्रकार आधुनिक युग के युवक के लिए सामाजिक तथा साहित्यिक दोनों क्षेत्रों मे सच्चे पथ-प्रदर्शक है।

छब्बीस जनवरी जवानों को उमङ्ग से भर देनेवाली तिथि रही है, छब्बीस जनवरी बूढ़ों को व्याकुल कर देनेवाली तिथि रही है—२६ जनवरी उत्साह और आशंका को समान भाव से वहन करनेवाली तिथि रही है। यह तिथि धर-पकड़, मार-पीट, लाठी-डंडे की स्मृति लेकर आती रही है, अत्याचार और सहनशीलता की परीक्षा का भार लेकर आती रही है। इसी महिमामयी तिथि को हमारा देश मेघमाला को विदीर्ण करके निकले हुए प्रभात-सूर्य की भाँति दिगन्त में ज्योतित होने जा रहा है। जो लोग इस दिन आशंका से व्याकुल हो जाते थे, वे उल्लसित हो रहे हैं, पर जो लोग इस दिन उल्लसित होते थे, उन्हें आशंका होने लगी है। क्या होगा इस देश का? शत शत जातियों-उपजातियों में विभक्त अशिक्षित जनता क्या उस महाभार को सँभाल सकेगी, जिसे बड़े बड़े कूट-नीतिज्ञों ने भी सँभालने में इतनी कठिनाई अनुभव की थी?

लेकिन जिनका विश्वास जनता पर न होकर कूटनीतिज्ञ दाँव-पेंचों पर अधिक होता है, वे ही ऐसी शंका करते हैं। जिस जनता ने गांधी को अपना नेता चुना, वह अविश्वसनीय नहीं हो सकती। भारतवर्ष की जनता केवल बुद्धि-विलास, केवल कूटनीतिक चातुर्य और केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने का कौशल नहीं चाहती। वह सबसे बड़ी बात चाहती है। गांधी में उसने उसी को पाया था और आज वह जवाहरलाल में उसी बड़ी वस्तु को पा रही है। हमारी जनता ने अपने महत्त्व का परिचय दे दिया है। उसके हाथ में देश का भाग्य

सुरक्षित है। अतएव यह चिन्ता की बात नहीं है कि हमारी जनता ठीक-ठीक राज्य-भार सँभाल सकेगी या नहीं।

चरित्रबल हमारी प्रधान समस्या है। हमारे महान् नेता ने कूटनीतिक चातुर्य को बड़ा नहीं समझा, बुद्धिविलास को बड़ा नहीं माना, चरित्रबल को ही महत्त्व दिया है। आज हमें सबसे अधिक इसी बात को सोचना है। वह चरित्रबल भी केवल एक व्यक्ति का नहीं, समूचे देश का होना चाहिए।

दुनिया में बड़ी बड़ी बातों का महिमा किससे छिपी है? कौन नहीं जानता कि तप बड़ी चीज है, त्याग बड़ी वस्तु है, ब्रह्मचर्य अच्छी चीज है? यह सब चाहते हैं कि लोग उन्हें त्यागी, तपी और विवेकी समझें; पर कोई ऐसी बड़ी बाधा हमारा रास्ता रोक लेती है कि हम कुछ कर ही नहीं पाते। भागवत में प्रह्लाद ने भगवान् से कहा था कि हे भगवान्, मौन-व्रत, शास्त्र-ज्ञान, अध्ययन, धर्माचरण, जप-तप, समाधि और मुक्तितत्त्व--ये सारी बड़ी बातें उन लोगों के लिए केवल बहस की चीज बन जाती हैं, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर लिया। फिर जो लोग दंभी हैं, उनके लिए तो यह वहस की भी बात नहीं होती।

यही ठीक है। जो अपने समस्त इन्द्रिय-समूह को वश में नहीं कर लेता, उस असंयमी पुरुष या स्त्री के सब बड़े संकल्प उसी प्रकार व्यर्थ होते हैं, जिस प्रकार फूटे बर्तन में पानी सुरक्षित रखने का प्रयास व्यर्थ हो जाता है। इसलिए किसी भी महान् संकल्प के लिए दृढ़ संयम और निष्ठा सबसे पहली शर्त है।

जितेन्द्रियता चरित्रबल की कुंजी है। वस्तुतः आजकल जिसे 'चरित्रबल' कहा जाने लगा है, उसे ही पुराना भारत 'जितेन्द्रियता' कहता था। अपने आदर्शों के प्रति अविचल

निष्ठा इसी गुण से आती है। महाभारत में कहा है कि काम-वश, भयवश, लोभवश, यहाँ तक कि प्राण के लिए भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए।

भारतवर्ष का मनुष्य न जाने कब से वैदिक ऋषियों की बनाई यह प्रार्थना करता आ रहा है कि वह कर्म करते हुए भी सौ वर्ष जीने की इच्छा करे, वह अदीन होकर ही धर्ममय जीवन व्यतीत करे; परन्तु चरित्रबल न रहे तो आदमी अपने संकल्प का अर्थ भी नहीं समझना चाहता। जिस ऋषि ने इस महान् संकल्प को नित्य दुहराने की व्यवस्था की थी, उसने यह भी सोचा था कि जो लोग ऐसी प्रार्थना करेंगे, वे दूसरे को दीन नहीं बनायेंगे।

२६ जनवरी इसी बात को स्मरण दिलाने आ रही है। हमें केवल चरित्रबल को ही नहीं बढ़ाना है, देश के चरित्रबल को क्षीण करनेवाली शक्तियों को भी निःशक्त कर देना है। तभी जनता-जनार्दन के स्वशासन का कुछ अर्थ हो सकता है।

### अभ्यास के लिए

(१) जीवन में चरित्रबल की क्या आवश्यकता है?

(२) छब्बीस जनवरी हमारे लिए महत्त्वपूर्ण दिन क्यों है?

(३) श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की लेखनशैली पर एक छोटा-सा निबंध लिखिए।

---

## ३—समाज और धर्म

माननीय श्री सम्पूर्णानन्द

राजनैतिक साहित्य-सेवियों में माननीय श्री सम्पूर्णानन्दजी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आपका जन्म एक सभ्रान्त कायस्थ-परिवार में

हुआ है। आपने बनारस के क्वीन्स कालेज में बी० एस्-सी० तथा प्रयाग ट्रेनिंग कालेज में एल० टी० परीक्षाएँ उत्तीर्ण की है। आपने अध्यापन-कार्य से अपने जीवन का प्रारम्भ किया और प्रेम-महाविद्यालय, वृन्दावन; हरिश्चन्द्र हाईस्कूल, बनारस, राजकुमार कालेज, इन्दौर तथा डूगर कालेज, बीकानेर आदि शिक्षा-संस्थाओं में अध्यापक के रूप में कार्य किया है। सन् १९१८ से १९२१ तक आप काशी विद्यापीठ में भी प्रोफेसर रह चुके है। आपने एक अँगरेजी पत्र 'टुडे' का सम्पादन किया था। आप प्रसिद्ध कांग्रेस नेता, समाजवादी लेखक, राजनीतिज्ञ एवं दर्शनकार है। कांग्रेस के विभिन्न आन्दोलनों में आपने कई बार कारावास भी भोगा है। समाज-वाद के सिद्धान्तों का आपका अध्ययन बड़ा ही गंभीर है।

सन् १९३८ में कांग्रेस-मन्त्रिमंडल बनने पर आपको 'शिक्षा-मन्त्री' का उत्तरदायित्वपूर्ण पद दिया गया था जिसे आपने बड़ी कुशलतापूर्वक निबाहा और कांग्रेस के आदेशानुसार सन् १९३९ में त्याग दिया।

आजकल आप उत्तरप्रदेश में 'शिक्षा तथा श्रम-मन्त्री' के पद पर सुशो-भित हैं तथा बड़ी योग्यता से मंत्रित्व सँभाल रहे है।

समाजवाद, राजनीति, दर्शन एवं शिक्षा-सम्बन्धी आपके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है। 'समाजवाद' नामक ग्रन्थ पर आपको १२००) का 'मंगलाप्रसाद-पारितोषिक' प्राप्त हो चुका है। 'चिद्विलास', 'अन्ता-राष्ट्रिय विधान', 'ब्राह्मण सावधान' तथा 'भाषा की शक्ति' आदि आपकी अन्य प्रमुख पुस्तके है। आपकी लेखन-शैली में एक विद्वान् का गम्भीर चिन्तन, दार्शनिक की जिज्ञासा-वृत्ति तथा सुधारक की सामाजिक कल्याण भावना का उत्कृष्ट समन्वय है। संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता होते हुए भी भाषा में स्वाभाविक ओज और गति है जिससे पाठक शीघ्र ही प्रभावित होता है। कही-कही लम्बे-लम्बे किन्तु स्पष्ट और प्रभावशाली वाक्यों में भाषण का सा आनन्द प्राप्त होता है, तो कही छोटे-छोटे वाक्य अपना सूत्र रूप पाठक के सम्मुख रखकर उसकी मानसिक चेतना को जागृत कर देते है। विराम चिन्हों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया गया

है जिससे लम्बे से लम्बे वाक्य में भी कोई उलझन नहीं आने पाती। आपका गद्य आपके सुदृढ़ चरित्र का पूर्ण अनुयायी है।

यदि सभी लोग अपने-अपने धर्म का पालन करें तो सभी सुखी और समृद्ध रह सकें, परन्तु आज ऐसा नहीं हो रहा है। धर्म का स्थान गौणातिगौण हो गया है, इसलिए सुख और समृद्धि भी गूलर का फूल हो गई है। यदि एक सुखी और सम्पन्न है तो पचास दुखी और दरिद्र हैं। साधनों की कमी नहीं है, परन्तु धर्म-बुद्धि के विकसित न होने से उनका उपयोग नहीं हो रहा है। कुछ स्वार्थी और युयुत्सु-प्रकृति के प्राणी तो स्यात् समाज में सभी कालों में रहे हैं और रहेंगे, परन्तु आज-कल ऐसी व्यवस्था है कि ऐसे लोगों को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने का खुला अवसर मिल जाता है और उनकी सफलता दूसरों को उनका अनुगामी बना देती है। दूसरी ओर जो लोग सचमुच सदाचारी हैं, उनके मार्ग में पदे-पदे अड़चनें पड़ती हैं।

मनुष्य का सबसे बड़ा स्वार्थ मोक्ष है, परन्तु समाज किसी में हठात् न तो आत्मसाक्षात्कार की इच्छा उत्पन्न कर सकता है और न कोई योगी बनने के लिए विवश किया जा सकता है। सबके सामने आत्मज्ञान और अभेद दर्शन का आदर्श रहे, वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का मूलमन्त्र प्रतिस्पर्धा की जगह सहयोग हो और सबको अपनी सहज योग्यताओं के विकास का अवसर मिले। यदि ऐसी व्यवस्था हो तो धर्म को स्वतः प्रोत्साहन और मुमुक्षा को अनुकूल वातावरण मिल जायगा। इसके साथ ही यह बात भी आप ही हो जायगी कि जिन लोगों की धर्मबुद्धि अभी उद्बुद्ध नहीं है, वे समाज की बहुत क्षति न कर सकें।

मनुष्य ने अपने को इतने टुकड़ों में बाँट लिया है कि एकता को कहीं आश्रय नहीं मिलता। जितने टुकड़े हैं उतने ही पृथक् हित हैं और इन हितों की सिद्धि पार्थक्य को उतना ही बढ़ाती है।

उदाहरण के लिए उस टुकड़े को लीजिए, जिसे राष्ट्र कहते हैं। हमने अपने को राष्ट्रों में बाँट रखा है और प्रत्येक राष्ट्र अपने को स्वतन्त्र, प्रभु राज्य के रूप में संव्यूढ़ देखना चाहता है। दो मनुष्य एक ही विचार रखते हैं, एक ही संस्कृति के उपासक हैं, एक को दूसरे से कोई द्वेष नहीं है। फिर भी विभिन्न राष्ट्रों के सदस्य होने के उनके हित टकराते हैं, एक को दूसरे से लड़ना पड़ता है, एक को दूसरे के बाल-बच्चों को भूखा मारना पड़ता है। व्यक्ति को दास बनाना बुरा समझा जाता है, परन्तु समूचे राष्ट्र को दास बनाना, समूचे राष्ट्र के जीवन को अपने इच्छानुसार चलाना, समूचे राष्ट्र का शोषण करना बुरा नहीं है। बलात् दूसरे के घर का प्रबन्ध नहीं किया जा सकता, परन्तु बलात् दूसरे राष्ट्र पर शासन किया जा सकता है। राष्ट्रों और राजों के परस्पर व्यवहार में सत्य, सहिष्णुता और अहिंसा का स्थान नहीं है। जो मनुष्य दूसरे व्यक्ति की एक पाई दबा लेना बुरा समझता है, वही राजपुरुष के पद से दूसरे राष्ट्र का गला घोंट देना निन्द्य नहीं मानता। यह बात श्रेयस्कर नहीं है। कुटुम्ब में व्यक्ति होते हैं, समाज में राष्ट्र इसी प्रकार रहें। कुछ बातों में अपना अलग जीवन भी बिताएँ, परन्तु सारे मानव-समाज की एकता सतत सामने रहनी चाहिए। युद्ध और कलह का युग समाप्त होना चाहिए; जो राष्ट्र दूसरे की ओर कुदृष्टि से देखे, वह राष्ट्र समाज से बहिष्कृत और दण्डित होना चाहिए। न्याय और सत्य सामूहिक आचरण के आधार बनाए जा सकते हैं। मानव-संस्कृति एक और अविभाज्य है।

योगी, कवि, कलाकार, विज्ञानी—चाहे किसी देश के निवासी हों—मनुष्य-समाज-मात्र की विभूति हैं। इसके साथ आर्थिक विभाजन भी समाप्त होना चाहिए। प्रकृति ने जो भोग्य-सामग्री प्रदान की है, उसे भी मनुष्य-मात्र के उपभोग का साधन बनाना उचित है। जब तक मनुष्य अपने देश के बाहर अजनबी समझा जायगा, जब तक वसुन्धरा बलवानों की सम्पत्ति समझी जायगी, जब तक किसी देश को यह अधिकार रहेगा कि वह सामर्थ्य रहते हुए भी दूसरे देशों की आवश्यकता पूर्ति करे या न करे और करे तो अपनी मनमानी शर्तों पर, तब तक मनुष्य-समाज सुखी नहीं हो सकता।

जो नियम अन्ताराष्ट्रिय जीवन के लिए उपयुक्त है, वही राष्ट्र के भीतर के लिए भी लागू होता है। यह समाजशास्त्र, राजनीति या अर्थशास्त्र की पुस्तक नहीं है; परन्तु दो चार बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

राष्ट्र का भीतरी संव्यूहन ऐसा होना चाहिए जिसमें प्रत्येक मनुष्य को धर्माविरुद्ध अर्थ और काम निर्बाध प्राप्त हो सके। यह तभी हो सकता है जब समाज का सङ्गठन धर्ममूलक हो। समय के साथ धर्म के ऊपरी रूप बदलते रहते हैं; परन्तु उसके मूल तत्त्व अटल हैं। जो काम ऐक्य और सहयोग-वर्द्धक है वह धर्म है, जो काम अपने संकुचित 'स्व' पर केन्द्रित रहता है वह अधर्म है। जिस समाज में कोई जन्मना ऊँचा, कोई जन्मना नीचा माना जायगा; जिस समाज में योग्य व्यक्ति को ऊपर उठने, अपनी सहजात योग्यता को विकसित करने का अवसर न दिया जायगा और अयोग्य व्यक्ति कुल के आधार पर ऊँचे पद से हटाया न जायगा; जिस समाज में तप और विद्या का स्थान सर्वोपरि न होगा, वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है। जिस समाज में थोड़े से व्यक्तियों को समाज

की धन-जन-शक्ति को यथेच्छ लगाने का अधिकार होता है; जिस समाज में शासितों को अपने शासकों की आलोचना करने और उनके काम से असन्तुष्ट होने पर उनको हटाने का अधिकार नहीं होता; जिस समाज में शासकों के ऊपर तपस्वी विद्वानों, ब्राह्मणों का अंकुश नहीं होता; जिस समाज में शिक्षा, विज्ञान, कला और उपासना पर शासकों का नियन्त्रण होता है, वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है। जिस समाज में थोड़े से मनुष्य धनवान् और शेष निर्धन हैं; जिस समाज में भोज्य पदार्थों के उत्पादन के मूल साधनों, अर्थात् भूमि, खनिजों और यन्त्रों पर कुछ व्यक्तियों का स्वत्व है; जिस समाज में मनुष्य का शोषण वैध है; जिस समाज में प्रतिस्पर्द्धियों को नीचे गिराना ही उन्नति का साधन है; जिस समाज में बहुतों की जीविका थोड़ों के हाथ में है, वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है। यह कोई तर्क नहीं है कि प्राचीन काल में आज से कई सहस्र या कई सौ वर्ष पूर्व इनमें से कई बातें उचित समझी जाती थीं और बड़े-बड़े विद्वानों ने इनका समर्थन किया था। जैसा ऊपर कहा गया है, धर्म का सिद्धान्त अटल है, परन्तु देश-काल-पात्र-भेद से उसके विनियोग में भेद होता रहता है। पुराकाल के ब्राह्मणों ने अपने समय के लिए चाहे जो व्यवस्था की हो, परन्तु हमको इस समय को देखना है। व्यास, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर या महात्मा गांधी का नाम तर्क का स्थान नहीं ले सकता। बस धर्माधर्म की एक ही परख है, यह काम भेद-भाव को कम करता है या बढ़ाता है? लोगों को एक दूसरे से मिलाता है या उनमें सङ्घर्ष उत्पन्न करता है? जहाँ कुछ लोगों को केवल अधिकार और कुछ को केवल कर्त्तव्य बाँटे जायँगे; जहाँ शिक्षक, पण्डित, कवि, साधु और धर्मगुरु अधिकारियों और श्रीमानों के उपजीवी होंगे; जहाँ पुरोहित का

लक्ष्य केवल यजमान से धन प्राप्त करना होगा; जहाँ सम्पन्नों के दरबारी व्यास-पीठ से दुर्बलों और दलितों को शान्ति और सन्तोष का पाठ पढ़ाने में इतिकर्त्तव्यता समझेंगे, वहाँ कदापि समता, सद्भाव, सहयोग, एकता नहीं रह सकती। वहाँ वैषम्य की आग प्रत्येक दुःखी हृदय में दहकती रहेगी। वह ज्वालामुखी एक दिन फूटेगा और क्रान्ति की लपट न केवल समाज की बुराई, वरन् भलाई को भी भस्मसात् कर देगी। जो लोग इसको बचाना चाहते हैं उनका कर्त्तव्य है कि अन्याय, शोषण, प्रपीड़न, अज्ञान, प्रवञ्चन का निरन्तर विरोध करें और मनुष्य मनुष्य में, प्राणी प्राणी में, सद्भाव और शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करें। ऐसे वातावरण में ही ऊँची कला, विद्या और विज्ञान पनप सकते हैं; ऐसे समाज में ही आत्मसाक्षात्कार के इच्छुकों को सुयोग मिलता है। समाज किसी को ब्रह्मज्ञानी नहीं बना सकता; परन्तु मनुष्य को मनुष्य की भाँति रहने का अवसर दे सकता है। उसका यही धर्म है।

## अभ्यास के लिए

(१) सुखी तथा समृद्धिशाली होने के लिए किस बात की आवश्यकता है ?

(२) 'मानव-सस्कृति एक और अविभाज्य है'—इस कथन की समुचित व्याख्या कीजिए।

(३) राष्ट्र का उचित सव्यूहन लेखक के अनुसार किस प्रकार होना चाहिए ?

(४) इस पाठ के लेखक के विषय मे आप क्या जानते है ? लेखक की शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

(५) समाज का सगठन धर्ममूलक हो—इस आधार पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखिए ।

---

# ४—दाँत

प० प्रतापनारायण मिश्र

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समकालीन लेखको मे पडित प्रताप-नारायण मिश्र का स्थान विशेष महत्त्व का है। आपका जन्म संवत् १९१३ में उन्नाव के समीप बैजे नाम के ग्राम मे हुआ था। आप सस्कृत, उर्दू, फारसी, अँगरेजी आदि भाषाएँ जानते थे। आपने संवत् १९४० में कानपुर से 'ब्राह्मण' नामक एक पत्र निकाला और दस वर्ष तक बड़ा घाटा उठाकर, हिन्दी-प्रचार और देश-सेवा की। कुछ काल तक आपने 'हिन्दोस्तान' नामक पत्र का भी सम्पादन किया। दुर्भाग्यवश, सवत् १९५१ मे ३८ वर्ष की आयु मे ही आपकी मृत्यु हो गई।

पंडित प्रतापनारायणजी 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' के बड़े पक्षपाती थे। ये बड़े मनमौजी और हँसमुख थे। साधारण से भी साधारण विषयों (वृद्ध, दाँत, भौ) पर इन्होंने बडे रोचक निबन्ध लिखे है। इनके लेख चुटीले हास्य एव व्यग्य के लिए विशेष प्रसिद्ध है; इसीलिए ये हिन्दी में 'विदग्ध साहित्य' के निर्माता कहे जाते है। इनकी भाषा साधारण बोल-चाल की है, जिसमे ग्रामीण शब्दों, कहावतों एवं मुहावरों की अधिकता रहती है। अपने समसामयिक निबन्ध-लेखक पडित बालकृष्ण भट्ट से इनकी शैली कई दृष्टियों मे भिन्न है। इनकी भाषा का रूप अपेक्षाकृत अस्थिर, ग्रामीण एव व्याकरण की त्रुटियों से ओत-प्रोत है। विराम चिन्हों का प्रयोग तो इन्होंने बहुत ही कम अथवा मनमाने ढग से किया है।

इन्होंने लगभग ४० पुस्तको की रचना एव अनुवाद किया है, जिनमें हठी हमीर, आल्हा, तृप्यंताम, भारत-दुर्दशा, मन की बहार विशेष उल्लेख-नीय है। निबध-नवनीत आपके सुन्दर निबन्धों का प्रसिद्ध सग्रह है।

**इस दो अक्षर के शब्द तथा इन थोड़ी सी छोटी-छोटी हड्डियों में भी उस चतुर कारीगर ने वह कौशल दिखलाया है कि**

किसके मुँह में दाँत हैं, जो पूरा-पूरा वर्णन कर सके। मुख की सारी शोभा और यावत् भोज्य पदार्थों का स्वादु इन्हीं पर निर्भर है। कवियों ने अलक (जुल्फ), भ्रू (भौं) तथा बरुणी आदि की छबि लिखने में बहुत-बहुत रीति से बाल की खाल निकाली है, पर सच पूछिए तो इन्हीं की शोभा से सबकी शोभा है। जब दाँतों के बिना पुपला-सा मुँह निकल आता है और चिबुक (ठोड़ी) एवं नासिका एक में मिल जाती है उस समय सारी सुघराई मिट्टी में मिल जाती है। नयन-बाण की तीक्ष्णता, भ्रू-चाप की खिंचावट और अलक-पन्नगी का विष कुछ भी नहीं रहता।

कवियों ने इसकी उपमा हीरा, मोती, माणिक से दी है, वह बहुत ठीक है, वरंच ये अवयव कथित वस्तुओं से भी अधिक मोल के हैं। यह वह अङ्ग है, जिसमें पाकशास्त्र के छहों रस एवं काव्यशास्त्र के नवों रस का आधार है। खाने का मजा इन्हीं से है। इस बात का अनुभव यदि आपको न हो तो किसी बुड्ढे से पूछ देखिए, सिवाय सतुआ चाटने के और रोटी को दूध में तथा दाल में भिगो के गले के नीचे उतार देने के दुनिया-भर की चीजों के लिए तरस ही के रह जाता होगा। रहे कविता के नौ रस, सो उनका दिग्दर्शन-मात्र हमसे सुन लीजिए।

शृङ्गार का तो कहना ही क्या है! ऐसा कवि शायद ही कोई हो जिसने सुन्दरियों की दन्तावली के वर्णन में अपनी कलम की कारीगरी न दिखाई हो। आह हा! मिस्सी तथा पान-रङ्ग रँगे अथवा यों ही चमकदार चटकीले दाँत जिस समय बातें करने तथा हँसने में दृष्टि आते हैं, उस समय रसिकों के नयन और मन इतने प्रमुदित हो जाते हैं कि जिनका वर्णन गूँगे की मिठाई है। हास्य-रस का तो पूर्ण रूप ही नहीं जमता, जब तक हँसते-हँसते दाँत न निकल पड़ें। करुण और रौद्र-रस में दुःख तथा क्रोध के मारे दाँत अपने होंठ चबाने के काम आते हैं,

एवं अपनी दीनता दिखा के दूसरों को करुणा उपजाने में दाँत दिखाये जाते हैं। रिस में भी दाँत पीसे जाते हैं। सब प्रकार के वीर रस में भी सावधानी से शत्रु की सैन्य अथवा दु:खियों के दैन्य अथवा सत्कीर्ति की चाट पर दाँत लगा रहता है। भयानक रस के लिए सिंह, व्याघ्रादि के दाँतों का ध्यान कर लीजिए, पर रात को नहीं, नहीं तो सोते से चौंक भागोगे। वीभत्स रस का प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो किसी जैनियों के जैनी महाराज के दाँत देख लीजिए, जिनकी छोटी सी स्तुति यह है कि मैल के मारे पैसा चपक जाता है। अद्भुत रस में तो सभी आश्चर्य की बात देख-सुन के दाँत बाय, मुँह फैलाय के हक्का-बक्का रह जाते हैं। शान्त रस के उत्पादनार्थ श्री शङ्कराचार्य स्वामी का यह पद महामन्त्र है—

अग गलित पलित मुण्ड दशन विहीन जात तुण्ड।
कर-धृत-कम्पित-शोभित-दण्ड तदपि न मुञ्चत्याशापिण्ड।
भज गोवन्द भज गोविन्द गोविन्द भज मूढमने।

सच है, जब किसी काम के न रहे तब पूछे कौन ?

"दाँत खियाने खुर घिसे, पीठ बोझ नहि लेइ।"

जिस समय मृत्यु की दाढ़ के बीच बैठे हैं, जल के कछुए, मछली, स्थल के कौआ, कुत्ता आदि दाँत पैने कर रहे हैं, उस समय में भी यदि सत् चित्त से भगवान् का न भजन किया तो क्या किया ? आपकी हड्डियाँ हाथी के दाँत तो हई नहीं कि मरने पर भी किसी के काम आवेंगी। जीते-जी संसार में कुछ परमार्थ बना लीजिए, यही बुद्धिमानी है। देखिए, आपके दाँत ही यह शिक्षा दे रहे हैं कि जब तक हम अपने स्थान, अपनी जाति (दन्तावली) और अपने काम में दृढ़ हैं, तभी तक हमारी प्रतिष्ठा है। यहाँ तक कि बड़े-बड़े कवि हमारी प्रशंसा

करते हैं, बड़े-बड़े सुन्दर मुखारविन्दों पर हमारी मोहर-छाप रहती है। पर मुख से बाहर होते ही हम एक अपावन, घृणित और फेंकने योग्य हड्डी हो जाते हैं—

"मुख मे मानिक सम दशन, बाहर निकसत हाड।"

हम जानते हैं कि नित्य यह देख के भी आप अपने मुख्य देश भारत और अपने मुख्य सजातीय हिन्दू-मुसलमानों का साथ तन-मन-धन और प्रानपन से क्यों नहीं देते? याद रखिए—

"स्थान-भ्रष्टा न शोभन्ते, दन्ता केशा नखा नरा.।"

हाँ, यदि आप इसका यह अर्थ समझें कि कभी किसी दशा में हिन्दुस्तान छोड़ के विलायत जाना स्थान-भ्रष्टता है, तो यह आपकी भूल है। हँसने के समय मुँह से दाँतों का निकल पड़ना नहीं कहलाता, वरञ्च एक प्रकार की शोभा होती है। ऐसे ही आप स्वदेश-चिन्ता के लिए कुछ काल देशान्तर में रह आयें तो आपकी बड़ाई है। पर हाँ, यदि वहाँ जाके यहाँ की ममता ही छोड़ दीजिए तो आपका जीवन उन दाँतों के समान है, जो होंठ या गाल कट जाने से अथवा किसी कारण-विशेष से बाहर रह जाते हैं, और सारी शोभा खो के भेड़िये के-से दाँत दिखाई देते हैं। क्यों नहीं, गाल और होंठ दाँतों का परदा है। जिसके परदा न रहा, अर्थात् स्वजातित्व की गैरतदारी न रही, उसकी निर्लज्ज जिन्दगी व्यर्थ है। कभी आपको दाढ़ की पीड़ा हुई होगी, तो अवश्य यह जी चाहा होगा कि इसे उखाड़ डालें तो अच्छा है। ऐसे ही हम उन स्वार्थ के अन्धों के हक में मानते हैं, जो रहें हमारे साथ, बनें हमारे ही देश-भाई, पर सदा हमारे देश-जाति के अहित ही में तत्पर रहते हैं। परमेश्वर उन्हें या तो सुमति दे या सत्यानाश करे। उनके होने का हमें कौन

सुख ? हम तो उनकी जै-जैकार मनावेंगे, जो अपने देशवासियों से दाँत-काटी रोटी का बर्ताव, सच्ची गहरी प्रीति रखते हैं। परमात्मा करे, हर हिन्दू-मुसलमान का देश-हित के लिए चाव के साथ दाँतों पसीना आता रहे। हमसे बहुत-कुछ नहीं हो सकता, तो यही सिद्धान्त कर रक्खा है कि—

"कायर कपूत कहाय, दाँत दिखाय भारत तम हरौ।"

कोई हमारे लेख देख दाँतों तले उँगली दबा के सूझ-बूझ की तारीफ करे, अथवा दाँत बाय के रह जाय; या अरसिकता-वश यह कह दे कि कहाँ की दाँताकिलकिल लगाई है, तो इन बातों की हमें परवा नहीं है। हमारा दाँत जिस ओर लगा है, वह लगा रहेगा; औरों की दन्तकटाकट से हमको क्या ?

यदि दाँतों के सम्बन्ध का वर्णन किया चाहें तो बड़े-बड़े ग्रंथ रँग डालें और पूरा न पड़े। आदिदेव श्री एकदन्त गणेशजी को प्रणाम करके श्री पुष्पदन्ताचार्य ने महिम्न में जिनकी स्तुति की है, उन शिवजी की महिमा, दन्तवक्त्र, शिशुपालादि के संहारक श्रीकृष्ण की लीला ही गा चलें, तो कोटि जन्म पार न पावें। नाली में गिरी हुई कौड़ी को दाँत से उठानेवाले मक्खी-चूसों की हिजो किया चाहें तो भी लिखते-लिखते थक जायँ। हाथी-दाँत से क्या-क्या वस्तुएँ बन सकती हैं ? कलों के पहियों में कितने दाँत होते हैं और क्या-क्या काम करते हैं ? गणित में कौड़ी-कौड़ी से एक-एक दाँत तक का हिसाब कैसे लग जाता है ? वैद्यक और धर्मशास्त्र में दन्त-धावन की क्या-क्या विधि है, क्या फल है, क्या निषेध है, क्या हानि है ? पद्धतिकारों ने 'दीर्घ-दन्ताः कचिन्मूर्खाः' आदि क्यों लिखा ? किस-किस जानवर के दाँत किस-किस प्रयोजन से किस-किस रूप-गुण से विशिष्ट बनाए गए हैं ? मनुष्यों के दाँत उजले, पीले, नीले,

छोटे, मोटे, लम्बे, चौड़े, घने, खुड़हे, कै रीति के होते हैं इत्यादि अनेक बातें हैं, जिसका विचार करने में बड़ा विस्तार चाहिए। वरञ्च यह भी कहना ठीक है कि ये बड़ी-बड़ी विद्याओं के बड़े-बड़े विषय लोहे के चने हैं, हर किसी के दाँतों फूटने के नहीं। तिस पर भी अकेला आदमी क्या-क्या लिखे ?

अतः हम इस दन्त-कथा को केवल इतने उपदेश पर समाप्त करते हैं कि आज हमारे देश के दिन गिरे हुए हैं, अतः हमें योग्य है कि जैसे बत्तीस दाँतों के बीच जीभ रहती है वैसे रहें, और अपने देश की भलाई के लिए किसी के आगे दाँतों में तिनका दबाने तक में लज्जित न हों तथा यह भी ध्यान रक्खें कि हर दुनियादार की बातें विश्वास-योग्य नहीं हैं। हाथी के दाँत खाने के और होते हैं, दिखाने के और।

## अभ्यास के लिए

(१) दाँतो की तुलना कवियो ने प्रायः किन वस्तुओ से की है ?

(२) दाँतो द्वारा लेखक ने नव रस किस प्रकार प्रकट किए है ?

(३) श्री प्रतापनारायण मिश्र की शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

# ५—सच्ची नागरिकता

मानतीय श्रीप्रकाश

माननीय श्रीप्रकाशजी भारतीय स्वतत्रता-सग्राम मे सदैव अगली पक्ति में रहे है। आप सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा० भगवानदासजी के सुपुत्र है और इस प्रकार योग्य पिता के योग्य पुत्र है। आपने श्रीमती बीसेण्ट के हिन्दू कालेज में शिक्षा प्राप्त कर इँगलैंड मे बी० ए० तथा बार० एट् ला० की परीक्षा पास की। तत्पश्चात् आप अवैतनिक रूप से समाज-सेवा मे लग गए। पहले काशी विश्वविद्यालय और फिर काशी विद्यापीठ मे आपने अध्यापन-कार्य किया। 'आज' का सम्पादन भी आपने किया।

आपने सरल तथा बोलचाल की हिन्दी मे सामाजिक हित-सबधी अनेक विषयो पर लिखा है। आपकी हिन्दी जन-साधारण की शुद्ध हिन्दी के बहुत निकट रहती है। उसमे न तो तत्सम शब्दो का बाहुल्य है, न उर्दू के शब्दो की भरमार है। सच पूछिए तो आपकी भाषा सचमुच बोलचाल की हिन्दी है, यद्यपि उसका रूप बडा ही सुघर और प्रभावोत्पादक है। 'गृहस्थगीता' आपकी प्रसिद्ध पुस्तक है और यह पाठ उसी मे से सकलित किया गया है।

मैं अपने आपसे अकसर पूछता हूँ कि हम लोगों के बड़े से बड़े प्रयत्न भी विफल क्यों हो जाते हैं ? हम उन्नति के लिए इतना आयास करते हैं; परन्तु उन्नति क्यों नहीं होती ? हमारे देश में बड़े से बड़े पुरुषों की कभी कमी नहीं रही और न आज ही है। बड़े से बड़े दार्शनिक, कवि और लेखक, बड़े से बड़े योद्धा, राजा और राष्ट्रनेता, बड़े से बड़े वैज्ञानिक, चिकित्सक और व्यापारी हमारे यहाँ बराबर होते आये हैं। किसी भी क्षेत्र में नेताओं की कमी नहीं रही। तिस पर भी, हमारा

राष्ट्रीय रथ दलदल में फँसा ही हुआ है; और ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकाधिक धँसता ही चला जाता है। बाहर निकलता नहीं देख पड़ता। इसका जो कारण मुझे प्रतीत होता है, वह यह है कि हमारे बीच बड़े-बड़े लोग तो अवश्य रहे हैं, और हैं; पर हमारी साधारण जनता बराबर वहीं की वहीं पड़ी हुई है, उसका औसत बहुत ही गिरा हुआ है, उसके ज्ञान और उसकी चेष्टा की सीमा बहुत ही संकुचित रही है। हम जन-साधारण अपने बीच में बड़े-बड़े आदमियों को देखकर संतुष्ट रहे हैं, उनकी पूजा-उपासना करने में, उनका सम्मान और प्रशंसा करने में हमने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझी है। हमने अपने को उन्नत करने का कभी यत्न नहीं किया। समाज के संघटन का हमने अपने को आवश्यक अङ्ग नहीं माना है और राष्ट्रीय जीवन में अपने स्थान का महत्त्व न समझकर अपने नागरिक कर्त्तव्यों और अधिकारों को न समझा है और न उनके अनुसार अपने जीवन का मार्ग निर्धारित किया है। यही कारण है कि हमारा देश उन्नति नहीं कर पा रहा है। थोड़े से नेताओं के कार्यों पर उन्नति निर्भर नहीं है। वास्तविक उन्नति के लिए सर्व-साधारण के सहयोग की आवश्यकता है। बड़े-बड़े लोग रास्ता दिखला सकते हैं, सब कुछ स्वयं कर नहीं सकते। उनकी निज की मान-मर्यादा अवश्य उनके निज के काम से बढ़ती है, उनका यश-गान होता है, उनका जय-जयकार होता है; परन्तु जब तक उनके आदेश और उपदेश के अनुसार जन-साधारण नहीं चलते, तब तक यह सम्भव नहीं कि उनका जो उद्देश्य है वह सिद्ध हो सके; क्योंकि उसकी सिद्धि तो अन्य लोगों के उनके कहने के अनुसार चलने पर ही अवलम्बित है, उनके कह देने मात्र पर नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि हमने अपने महापुरुषों का आदर-सत्कार बहुत किया

है, उनकी प्रतिमा बना-बनाकर पूजा की है; परन्तु उनके कहने के अनुसार अपना जीवन नहीं बनाया। यही कारण है कि देश वहीं पड़ा हुआ है जहाँ पहले था। बड़े लोग आये, और चले गये, हमने उनका जन्म-दिवस अथवा पुण्य-तिथि मना ली, पर हम स्वयं वैसे के वैसे रह गये।

यदि हम अन्य देशों को देखें, तो हमको मनुष्य-मनुष्य में उतना अन्तर नहीं देख पड़ता, जितना हम अपने देश में देखते हैं। शिक्षा में, धन में, रहन-सहन में, विचार-शैली में, हमारे देश के भिन्न-भिन्न लोगों में बड़ा भयङ्कर अन्तर है। यों तो सभी देशों में मनुष्य-मनुष्य में अन्तर रहता ही है, पर हमारे यहाँ शिक्षित समाज और अपढ़ समाज, धनी और निर्धन में इतना फर्क है कि यह प्रतीत ही नहीं होता कि ये लोग एक ही देश और काल के रहनेवाले हैं। सड़क पर राह-चलतों को देखने से ऐसा मालूम होता है, मानो कई युगों और कई सभ्यताओं के प्रतिनिधि एक साथ चल रहे हों। ऐसी अवस्था में किसी एक निश्चित मार्ग पर चलने के लिए संघटित होना हमारे लिए असम्भव हो जाता है। साथ ही साथ हमारे देश के वायु-मण्डल में जाति-भेद का भाव इतना प्रबल है कि देश-सेवा और समाज-सेवा का कार्य भी हमने एक विशेष श्रेणी के लोगों का कर्त्तव्य समझ रखा है, जिनकी प्रशंसा तो हम अवश्य करते हैं, पर जिनका प्रभाव अपने प्रतिदिन के जीवन पर पड़ने की आवश्यकता का हम अनुभव नही करते। सार्वजनिक कार्य हमने कुछ खास व्यक्तियों का पेशा मान लिया है और जैसे अन्य पेशेवालों से हम पूछते हैं कि अमुक कार्य की बाजार में क्या हालत है, वैसे ही इनसे भी पूछते हैं कि देश के कार्य की, स्वराज्य की क्या हालत है? कभी कभी तो उसे किसी का निजी कार्य

समझकर उससे पूछते हैं—"कहो, तुम्हारे स्वराज्य का क्या हुआ ?"

देश के बड़ा होने के लिए आवश्यक है कि हमारी साधारण जनता उन्नत हो, अर्थात् हमारे छोटे से छोटे देशवासी अपने नागरिक-अधिकारों और कर्त्तव्यों को समझें और तदनुसार जीवन-निर्वाह करें। जहाँ तक अपने नागरिक जीवन का संबंध है, वहाँ तक किसी श्रेणी अथवा जाति के भ्रम में न पड़ें। इसका सदा खयाल रखें कि देश सबका है, किसी एक व्यक्ति या समूह का नहीं; और एक की अकर्मण्यता अथवा अविवेक से बहुत बड़ी हानि हो सकती है। देश की रक्षा करने का कार्य सबका है, किसी एक का नहीं, और देश विविध अङ्गों में पुष्ट तभी रह सकता है, जब सब लोग अपना-अपना कार्य समुचित प्रकार से करें। थोड़े में हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता कार्य-कुशल नागरिकों की है।

कार्य-कुशलता का पहला अङ्ग तो यह है कि हम अपने कार्य को समय से निर्धारित कर उसे अच्छी तरह जानें। हम लोगों में से अधिकतर लोग कार्य उठा तो लेते हैं; पर उसे अच्छी तरह जानते नहीं, और न जानने का यत्न ही करते हैं। जब सफलता नहीं मिलती तो अपने को दोष न देकर हम दूसरे को दोष देते हैं, अपना हृदय कलुषित करते हैं और बार बार कार्य बदलते हुए बड़े सन्ताप में जीवन व्यतीत करते हैं। छोटे-बड़े सभी कामों में यह देखा जाता है। साधारण तौर से शायद यह समझा जाय कि घास छीलना या झाड़ू देना बहुत सरल काम है। सम्भव है, हममें से बहुत से लोग उसे हेय भी समझते हों। पर वे यदि इन कामों को आजमाने के लिए किसी वक्त करने की कोशिश करें, तो मालूम हो जाय कि यह कितना कठिन काम है और इसके लिए भी शिक्षा की कितनी

आवश्यकता है। हम लोगों में से अधिकतर लोग जो काम करते हैं, उसकी एक एक तफसील पर ध्यान नहीं देते और न उसमें पूरे तौर से योग्यता और निपुणता प्राप्त करने का यत्न करते हैं। इसी से हमारा काम खराब होता है और हमारे हाथ से सब काम निकलते जाने का यही कारण है कि दूसरे लोग उसी काम को ज्यादा अच्छी तरह करते हैं और हम स्वयं उनके काम को अपने काम से ज्यादा पसन्द करने लगते हैं।

कार्य-कुशलता छोटे और बड़े का भेद नहीं जानती। जो कार्य-कुशल होगा, वह चाहे आरम्भ में कितना ही छोटा क्यों न हो, अवश्य उन्नति करेगा और जो नहीं होता, वह आरम्भ में चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, अवश्य गिरेगा। इस कारण कार्य-कुशलता का पहला अङ्ग है—अपने काम को समय से निर्धारित कर उसे अच्छी तरह से जानना।

कार्य-कुशल व्यक्ति अपने कार्य में बहुत गर्व अनुभव करता है। उसको इस बात का गर्व होता है कि हम अमुक कार्य करते हैं, और समाज के एक आवश्यक अङ्ग की पूर्ति करते हैं, यदि हम न हों तो समाज नष्ट हो जाय। यदि आप विचार करें तो देखेंगे कि आज जिन लोगों का हम मान कर रहे हैं, वे वास्तव में समाज के लिए उतने जरूरी नहीं हैं, जितने वे लोग जिनका आज अपमान होता है। आज समाज में बड़े-बड़े राज्याधिकारी, बड़े-बड़े वकील, बड़े-बड़े जमीदार, बड़े-बड़े व्यापारी आदि का बड़ा मान है। पर यदि ये न रहें तो समाज की कोई हानि न हो। इनके मान का सबसे बड़ा कारण यह है कि ये स्वयं अपने पेशे का बहुत बड़ा मान करते हैं और दूसरों को विवश होकर इनका मान करना पड़ता है। पर सच्ची बात तो यह है कि यदि भोजनोपरान्त भाषण करनेवाले उच्च राज्य-पदाधिकारी, मस्तिष्क का दुरुपयोग करनेवाले बड़े-बड़े वकील,

धन-राशि कमानेवाले बड़े-बड़े व्यापारी और बिना परिश्रम किये अमीर बन जानेवाले बड़े-बड़े जमींदार कम हो जायँ तो संसार की कोई हानि नहीं; सम्भव है, लाभ ही हो। पर ये अपने पेशे पर गर्व करते हैं, दूसरे नहीं। ये अपने काम को जानते हैं, दूसरे नहीं जानते। इनकी उन्नति हो रही है, इनकी साख जमी हुई है। बाकी लोग दलित हैं और आत्मसम्मानहीन होकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

गर्व करने के बदले हम अपने कार्य से शरमाते हैं, उसे छिपाने का यत्न करते हैं और इस फिक्र में रहते हैं कि हमारा भी समावेश उन गरोहों में हो जाय, जो अपने को बड़ा मानकर दूसरों से भी अपना बड़प्पन मनवा लेते हैं। मेरा यह आग्रह है कि हम जो कोई भी काम करें, उसकी सामाजिक आवश्यकता अनुभव करते हुए उस पर गर्व करें, अपने काम को ठीक प्रकार से कर उसमें अपना मान समझें, उसको खराब करने में शरमायें। काम कोई भी खराब नहीं है, उसको करनेवाला खराब हो सकता है। अतः कार्यकुशल व्यक्ति की दूसरी विशेषता यह है कि वह अपने काम को अच्छा और बड़ा मानता है, उस पर गर्व करता है।

कार्यकुशलता का तीसरा अङ्ग परिश्रम है। यह संसार परिश्रम का है। जो परिश्रम करने को तैयार नहीं है, वह कुछ नहीं कर सकता। सतत परिश्रम ही हमें आगे ले जा सकता है। सुस्ती पीछे ही ढकेलती जायगी। हम लोग अपने काम से बहुत जल्दी थक जाते हैं, परेशान होकर उसे छोड़ देते हैं, इस कारण हम उन्नति नहीं कर पाते। हमको धुन नहीं है, हमको लगन नहीं है, हम थोड़े में बहुत चाहते हैं, न मिलने पर रुष्ट हो जाते हैं। इस परिश्रम की ही कमी से हम अपना काम ठीक तरह नहीं करते। चौबीस घंटे कुछ कम समय नहीं है। इसमें से

अधिक को हम अपव्यय कर देते हैं। संसार के बड़े-बड़े कार्य करनेवालों को भी चौबीस ही घण्टे मिले हैं; पर वे तो इतने में ही इतना काम कर लेते हैं जितना हम साधारण लोग हफ्तों और महीनों में नहीं कर पाते। सतत परिश्रम ही प्रकृति का नियम है। वास्तव में हमको अब ऐसे व्यक्तियों की, जो साधारणतः 'नेता' या 'देशभक्त' कहे जाते हैं, उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी सच्चे साधारण नागरिकों की। हमको ऐसे देव-देवियों अर्थात् महापुरुषों और महती स्त्रियों की जरूरत है जो देश के विविध अङ्गों को अपने श्रम से पुष्ट करें और हर तरह से देश को समुन्नत और समृद्धिशाली बनावें।

ऐसे कार्य-कुशल व्यक्ति न स्वयं अस्पृश्य होते हैं, न किसी को अस्पृश्य मानते हैं। ऐसे व्यक्ति सर्वथा विश्वासपात्र होते हैं और उनकी यही कामना रहती है कि सब लोग विश्वासपात्र हों। हम लागों में अस्पृश्यता का रोग घुसा हुआ है। अस्पृश्यता शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। पर यदि हम विचार कर देखें, तो हमें मालूम होगा कि यह रोग सबको व्याप्त किए हुए है। हम सब ही एक दूसरे के प्रति अस्पृश्य हैं। देश के कितने ही प्रान्तों में छुआछूत का रोग इतना व्याप्त है कि कोई भी किसी दूसरे को छू नहीं सकता, उसका छुआ भोजन नहीं कर सकता। एक ही घर के प्राणियों में भी यह व्यवहार पाया जाता है। पर यह अस्पृश्यता केवल भोजन अथवा विवाह के ही क्षेत्र में सीमित नहीं है। यह हर जगह देख पड़ती है, जिसके कारण सब लोग पृथक् हो गए हैं, परस्पर के राग-द्वेष की मात्रा बहुत बढ़ गई है, प्रत्येक व्यक्ति सभी को छोटे-बड़े की तराजू में तौला करता है और दूसरों को नीचा दिखाने के यत्न में रहता है। कार्य-कुशल व्यक्ति सबको सम दृष्टि से देखता है। वह सबका और

सबके काम का आदर करता है; और आशा करता है कि उसकी तरफ भी लोगों का वही भाव रहेगा, जो उसका उनकी तरफ है। दूसरों की उतनी ही आवश्यकता अनुभव करता है जितनी अपनी। समदृष्टि ही अस्पृश्यता-निवारण का सर्वोत्तम साधन है, समता का भाव ही वह चमत्कार है जो इस रोग को हमारे समाज से निकाल सकता है।

परस्पर अस्पृश्य होने के साथ ही साथ हम लोग परस्पर विश्वास भी नहीं करते अर्थात् हम लोग छोटे-बड़े, सब छोटी-बड़ी बातों में परस्पर विश्वास के योग्य व्यवहार नहीं करते। हम कुछ जान-बूझकर मिथ्या आचरण नहीं करना चाहते; पर हमारा ऐसा अभ्यास हो गया है कि बिना विचार के हमने अपने को अविश्वास्य कर दिया है। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह आशा रखे कि उसके प्रति जो समुचित कर्त्तव्य दूसरों का है वे उसका पालन करेंगे। जब हम सड़क पर चलते हैं तो हमें इसका अधिकार है कि हमको समुचित सुविधा अन्य सब चलनेवालों से मिले। पर हमको सदा यह भय लगा रहता है कि हम पर कोई अपने मकान के ऊपर से कूड़ा फेंक देगा; कोई केले का छिलका इस तरह से फेंकेगा कि हम उस पर से फिसलकर गिर जायँगे; कोई साहब आगे से छाता इस तरह से कन्धे पर रखकर चलते होंगे कि हमारी आँखों में उसकी नोक चुभ जायगी।

अपने नागरिक कर्त्तव्यों को न पालन कर हम देश की उन्नति में बाधा डाल रहे हैं। इसका प्रभाव हमारे आपस के प्रतिदिन के सम्बन्ध पर भी पड़ा है। जब हम मोची, दर्जी, धोबी आदि को कोई काम देते हैं तो हमें यह विश्वास नहीं रहता कि यह समय से काम कर देगा, न उसे विश्वास रहता है कि हम समय पर उसे दाम देंगे। इसी कारण परस्पर

तकाजे पर तकाजा करते रहना पड़ता है। ऐसी दशा में समाज कैसे ठीक प्रकार से चल सकता है। हालत यहाँ तक पहुँची है कि यदि आप किसी को भोजन का निमंत्रण दें, और उन्होंने उसे स्वीकार भी कर लिया हो, तो न आपको यह विश्वास रहता है कि वे आ जायँगे, न उन्हें यह विश्वास रहता है कि यदि जायँगे तो भोजन भी मिल जायगा।

देश की उन्नति इने-गिने बहुत बड़े-बड़े लोगों पर निर्भर नहीं रह सकती। देश की उन्नति, देश की प्रगति, देश का अभ्युदय, देश की स्वतन्त्रता साधारण से साधारण व्यक्तियों के अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों को ठीक तरह समझने पर ही निर्भर है। देश तो व्यक्तियों का है, व्यक्ति कुलों-कुटुम्बों में बँधे हैं। कुटुम्बों की हालत देखिए। क्या हम समय पर रोटी खाने पहुँच जाते हैं? क्या हमारी माताओं और स्त्रियों को रोटी लिये हुए घंटों रोज बैठे नहीं रहना पड़ता? क्या इस प्रकार से कुल का संघटन हो सकता है? हमारा सारा व्यक्तिगत, कुलगत, समाजगत जीवन परस्पर के अविश्वास के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गया है। इसको सँभालना अत्यावश्यक है। इसे यदि हम नहीं सँभालते तो हमारा सारा प्रयत्न व्यर्थ है। चन्द लोग बड़े हो सकते हैं, नाम कमा सकते हैं, प्रशंसा करा सकते हैं; पर वे देश का उद्धार नहीं कर सकते, जब तक हम जन-साधारण अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करते। हमारी सारी शिक्षा व्यर्थ है, हमारी पाठशालाओं, विद्यालयों आदि पर जो कुछ व्यय किया जा रहा है वह सब व्यर्थ है, हम अपना जो जीवन अक्षर-ज्ञान में व्यतीत कर रहे हैं वह सब व्यर्थ है, जब तक हमें अपने साधारण नागरिक कर्त्तव्यों और अधिकारों की शिक्षा नहीं दी जाती। शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य यही है कि व्यक्ति अपने को अपने लिए, अपने कुटुम्ब के

लिए, अपने समाज के लिए यथा-सम्भव अधिकतम उपयोगी बना सके और समाज में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त कर सके। सच्चा नागरिक ही वास्तविक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति है। मेरी तो यही आशा है, यही अभिलाषा है, यही आकांक्षा है कि हमारे देश में सच्चे नागरिकों, वास्तव में कार्य-कुशल नर-नारियों की हर प्रकार के कार्य में इतनी बहुतायत हो—मैं तो उस दिन की उत्कंठा से प्रतीक्षा कर रहा हूँ—कि हम सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर, उसे निबाह सकें, उसे स्थापित रख सकें और अपने देश में उसी प्रकार से आत्मसम्मान-युक्त, स्वतन्त्र पुरुषोचित जीवन व्यतीत कर सकें, जैसा स्वतन्त्र देशों में आज भी लोग व्यतीत कर रहे हैं।

## अभ्यास के लिए

(१) हमारे यहाँ श्रेष्ठ नेताओ के रहते हुए भी हमारा राष्ट्रीय रथ क्यो दलदल मे फँसता जा रहा है?

(२) कार्यकुशलता से लेखक का क्या तात्पर्य है? कार्यकुशल व्यक्ति मे कौन कौन से गुण होने चाहिए?

(३) भारतीय समाज मे अस्पृश्यता किन-किन रूपो मे फैली हुई है?

(४) देश की सच्ची उन्नति के लिए प्रत्येक नागरिक का क्या कर्त्तव्य है?

---

# ६—बातचीत

पंडित बालकृष्ण भट्ट

प्रारम्भिक गद्य-लेखकों मे पडित बालकृष्ण भट्ट का उच्च स्थान है। आपका जन्म संवत् १९०१ मे प्रयाग मे हुआ था। आप जीवन भर हिन्दी की सेवा कर सवत् १९७१ मे स्वर्ग सिधारे। आप सस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी और अँगरेजी आदि भाषाओ का अच्छा ज्ञान रखते थे।

'हिन्दी-प्रदीप' के सम्पादन-द्वारा भट्टजी ने हिन्दी की प्रशंसनीय सेवा की है। साधारण विषयो (जैसे 'कान', 'नाक', 'आँख', 'बातचीत' इत्यादि) पर भी आपके लिखे हुए निबध अत्यन्त सजीव तथा सुन्दर है। आपके लेखो मे गाम्भीर्य एव हास्य का अद्भुत मिश्रण है। भट्टजी भाषा को व्यापक बनाने के लिए हिन्दी के तद्भव शब्दो के अतिरिक्त उर्दू और अँगरेजी के व्यावहारिक शब्दो को प्रयोग मे लाने से सकोच नही करते थे। भाषा के सम्बन्ध मे आपकी यह नीति उदार एव प्रशसनीय थी। इस दृष्टि से आपकी शैली मे व्यक्तित्व की छाप है। आपके समकालीन पडित प्रतापनारायण मिश्र की अपेक्षा आपकी भाषा अधिक नागरिक, शिष्ट, विशुद्ध और सजीव है। आप कही-कही मुहाविरो की झडी भी लगा देते है। हिन्दी मे गद्य-काव्य के जन्मदाता भी आप ही माने जाते है।

आपकी कृतियो मे 'सौ अजान एक सुजान', 'नूतन ब्रह्मचारी', प्रभृति कहानियाँ तथा 'रेल का विकट खेल' और 'बाल-विवाह' नाटक पठनीय है। 'साहित्य-सुमन' आपके उत्कृष्ट निबधो का प्रसिद्ध सग्रह है।

**इसे तो सभी स्वीकार करेंगे कि अनेक प्रकार की शक्तियाँ जो वरदान की भाँति ईश्वर ने मनुष्यों को दी हैं, उनमें वाक्-शक्ति भी एक है। यदि मनुष्य की और और इंद्रियाँ अपनी अपनी शक्तियों से अविकल रहतीं और वाक्शक्ति मनुष्यों में**

न होती तो हम नहीं जानते कि इस गूँगी सृष्टि का क्या हाल होता। सब लोग लुंज-पुंज से ही मानो कोने में बैठा दिए गए होते और जो कुछ सुख-दुख का अनुभव हम अपनी दूसरी दूसरी इंद्रियों के द्वारा करते, उसे अवाक् होने के कारण, आपस में एक-दूसरे से कुछ न कह-सुन सकते। इस वाक्शक्ति के अनेक फायदों में "स्पीच" वक्तृता और बातचीत दोनों हैं। किन्तु स्पीच से बातचीत का ढंग ही निराला है। बातचीत में वक्ता को नाज-नखरा जाहिर करने का मौका नहीं दिया जाता कि वह बड़े अंदाज से गिन-गिनकर पाँव रखता हुआ पुलपिट पर जा खड़ा हो और पुण्याहवाचन या नांदीपाठ की भाँति घड़ियों तक साहबान मजलिस, चेयरमैन, लेडीज ऐंड जेंटिल-मेन की बहुत सी स्तुति करे-करावे और तब किसी तरह वक्तृता का आरंभ करे। जहाँ कोई मर्म या नोक की चुटीली बात वक्ता महाशय के मुख से निकली कि तालिध्वनि से कमरा गूँज उठा। इसलिए वक्ता को खामखाह ढूँढ़कर कोई ऐसा मौका अपनी वक्तृता में लाना ही पड़ता है जिससे करतलध्वनि अवश्य हो।

वही हमारी साधारण बातचीत का कुछ ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतलध्वनि का कोई मौका है, न लोगों को कहकहे उड़ाने की कोई बात ही रहती है। हम दो आदमी प्रेम-पूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई, हँस पड़े। मुसकराहट से होठों का केवल फड़क उठना ही इस हँसी की अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य सुननेवालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।

जहाँ आदमी को अपनी जिंदगी मजेदार बनाने के लिए

खाने, पीने, चलने, फिरने आदि की जरूरत है, वहाँ बातचीत की भी उसको अत्यंत आवश्यकता है। जो कुछ मवाद या धुआँ जमा रहता है, वह बातचीत के जरिए भाप बन बाहर निकल पड़ता है। चित्त हलका और स्वच्छ हो परम आनंद में मग्न हो जाता है। बातचीत का भी एक खास तरह का मजा होता है। जिनको बातचीत करने की लत पड़ जाती है, वे उसके पीछे खाना-पीना भी छोड़ बैठते हैं। अपना बड़ा हर्ज कर देना उन्हें पसंद आता है; पर वे बातचीत का मजा नहीं खोया चाहते। राबिंसन क्रूसो का किस्सा बहुधा लोगों ने पढ़ा होगा जिसे १६ वर्ष तक मनुष्य का मुख देखने को भी नहीं मिला। कुत्ता, बिल्ली आदि जानवरों के बीच में रह १६ वर्ष के उपरान्त उसने फ्राइडे के मुख से एक बात सुनी। यद्यपि इसने अपनी जंगली बोली में कहा था, पर उस समय राबिंसन को ऐसा आनंद हुआ, मानो इसने नये सिरे से फिर से आदमी का चोला पाया। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य की वाक्-शक्ति में कहाँ तक लुभा लेने की ताकत है। जिनसे केवल पत्र-व्यवहार है, कभी एक बार भी साक्षात्कार नहीं हुआ, उन्हें अपने प्रेमी से बात करने की कितनी लालसा रहती है। अपना आभ्यंतरिक भाव दूसरे पर प्रकट करना और उसका आशय आप ग्रहण कर लेना केवल शब्दों के ही द्वारा हो सकता है। सच है, जब तक मनुष्य बोलता नहीं तब तक उसका गुण-दोष प्रकट नहीं होता। वेन जानसन का यह कहना, कि बोलने से ही मनुष्य के रूप का साक्षात्कार होता है, बहुत ही उचित जान पड़ता है।

इस बातचीत की सीमा दो से लेकर वहाँ तक रखी जा सकती है, जहाँ तक उनकी जमात मीटिंग या सभा न समझ ली जाय। एडिसन का मत है कि असल बातचीत सिर्फ दो

व्यक्तियों में हो सकती है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि जब दो आदमी होते हैं तभी अपना दिल एक-दूसरे के सामने खोलते हैं। जब तीन हुए तब वह दो की बात कोसों दूर गई। कहा भी है कि छ: कानों में पड़ी बात खुल जाती है। दूसरे यह कि किसी तीसरे आदमी के आ जाते ही या तो वे दोनों अपनी बातचीत से निरस्त हो बैठेंगे या उसे निपट मूर्ख अज्ञानी समझ बनाने लगेंगे।

जैसे गरम दूध और ठण्ढे पानी के दो बर्तन पास साँट के रखे जायँ तो एक का असर दूसरे में पहुँचता है, अर्थात् दूध ठंढा हो जाता है और पानी गरम, वैसे ही दो आदमी पास बैठे हों तो एक का गुप्त असर दूसरे पर पहुँच जाता है, चाहे एक दूसरे को देखे भी नहीं, तब बोलने की कौन कहे। एक के शरीर की विद्युत् दूसरे में प्रवेश करने लगती है। जब पास बैठने का इतना असर होता है तब बातचीत में कितना अधिक असर होगा, इसे कौन न स्वीकार करेगा। अस्तु, अब इस बात को तीन आदमियों के साथ में देखना चाहिए। मानो एक त्रिकोण सा बन जाता है। तीनों चित्त मानो तीन कोण हैं और तीनों की मनोवृत्ति के प्रसरण की धारा मानो उस त्रिकोण की तीन रेखाएँ हैं। गुप-चुप असर तो उन तीनों में परस्पर होता ही है। जो बातचीत तीनों में की गई, वह मानो अँगूठी में नग सी जड़ जाती है। उपरांत जब चार आदमी हुए तब बेतकल्लुफी को बिलकुल स्थान नहीं रहता। खुल के बातें न होंगी। जो कुछ बातचीत की जायगी वह "फार्मेलिटी", गौरव और संजीदगी के लच्छे में सनी हुई होगी। चार से अधिक की बातचीत तो केवल रामरमौवल कहलावेगी। उसे हम संलाप नहीं कह सकते।

इस बातचीत के अनेक भेद हैं। दो बुड्ढों की बातचीत प्राय: जमाने की शिकायत पर हुआ करती है। वे बाबा आदम

के समय का ऐसा दास्तान शुरू करते हैं, जिसमें चार सच तो दस झूठ। एक बार उनकी बातचीत का घोड़ा छूट जाना चाहिए, पहरों बीत जाने पर भी अंत न होगा। प्रायः अँगरेजी राज्य, परदेश और पुराने समय की बुरी रीति-नीति का अनुमोदन और इस समय के सब भाँति लायक नौजवानों की निंदा उनकी बातचीत का मुख्य प्रकरण होगा। पढ़े-लिखे हुए तो शेक्सपियर, मिलटन, मिल और स्पेंसर उनकी जीभ के आगे नाचा करेंगे। अपनी लियाकत के नशे में चूर चूर 'हमचुनी दीगरे नेस्त', अक्खड़पन की चर्चा छेड़ेंगे। दो हम-सहेलियों की बातचीत का कुछ जायका ही निराला है। रस का समुद्र मानो उमड़ा चला आ रहा है। इसको पूरा स्वाद उन्हीं से पूछना चाहिए जिन्हें ऐसों की रससनी बातें सुनने को कभी भाग्य लड़ा है।

दो बुढ़ियों की बातचीत का मुख्य प्रकरण, बहू-बेटीवाली हुई तो, अपनी बहुओं या बेटों का गिल्ल-शिकवा होगा या वे बिरादराने का कोई ऐसा रामरसरा छेड़ बैठेंगी कि बात करते-करते अंत में खोढ़े दाँत निकाल लड़ने लगेंगी। लड़कों की बातचीत, खिलाड़ी हुए तो, अपनी अपनी तारीफ करने के बाद वे कोई सलाह गाँठेंगे जिसमें उनको अपनी शैतानी जाहिर करने का पूरा मौका मिले। स्कूल के लड़कों की बातचीत का उद्देश्य अपने उस्ताद की शिकायत या तारीफ या अपने सहपाठियों में किसी के गुन-औगुन का कथोपकथन होता है। पढ़ने में कोई लड़का तेज हुआ तो कभी अपने सामने दूसरे को कुछ न गिनेगा। सुस्त और बोदा हुआ तो दबी बिल्ली का सा स्कूल भर को अपना गुरु ही मानेगा। इसके अलावा बातचीत की और बहुत सी किस्में हैं। राजकाज की बात, व्यापार-सम्बन्धी बातचीत, दो मित्रों में प्रेमालाप इत्यादि।

हमारे देश में नीच जाति के लोगों से बतकही होती है। लड़की-लड़केवाले की ओर से एक एक आदमी बिचवई होकर दोनों के विवाह-सम्बन्ध की कुछ बातचीत करते हैं। उस दिन से बिरादरीवालों को जाहिर कर दिया जाता है कि अमुक की लड़की का अमुक के लड़के के साथ विवाह पक्का हो गया और यह रसम बड़े उत्सव के साथ की जाती है। चंडूखाने की बातचीत भी निराली होती है। निदान बात करने के अनेक प्रकार और ढंग हैं।

योरप के लोगों में बात करने का हुनर है। "आर्ट आफ कनवरसेशन" यहाँ तक बढ़ा है कि स्पीच और लेख दोनों इसे नहीं पाते। इसकी पूर्ण शोभा काव्यकला-प्रवीण विद्वन्मंडली में है। ऐसे चतुराई के प्रसंग छेड़े जाते हैं कि जिन्हें सुन कान को अत्यन्त सुख मिलता है। सुहृद्-गोष्ठी इसी का नाम है। सुहृद्-गोष्ठी की बातचीत की यह तारीफ है कि बात करनेवालों की लियाकत अथवा पंडिताई का अभिमान या कपट कहीं एक बात में न प्रकट हो, वरन् क्रम रसाभास पैदा करनेवाले सभों को बरकते हुए चतुर सयाने अपनी बातचीत को अक्रम रखते हैं। यह हमारे आधुनिक शुष्क पंडितों की बातचीत में, जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं, कभी आवेगा ही नहीं। मुर्ग और बटेर की लड़ाइयों की झपटा-झपटी के समान उनकी नीरस काँव-काँव में सरस संलाप की तो चर्चा ही चलाना व्यर्थ है, वरन् कपट और एक दूसरे को अपने पांडित्य के प्रकाश से वाद में परास्त करने का संघर्ष आदि रसाभास की सामग्री वहाँ बहुतायत के साथ आपको मिलेगी। घंटे भर तक काँव-काँव करते रहेंगे तो कुछ न होगा। बड़ी बड़ी कम्पनी और कारखाने आदि बड़े से बड़े काम इसी तरह पहले दो-चार दिली दोस्तों की बातचीत से ही शुरू किए गए।

उपरांत बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़े कि हजारों मनुष्यों की उनसे जीविका चलने लगी और साल में लाखों की आमदनी होने लगी। पचीस वर्ष के ऊपरवालों की बातचीत अवश्य ही कुछ न कुछ सारगर्भित होगी, अनुभव और दूरंदेशी से खाली न होगी और पचीस से नीचे की बातचीत में यद्यपि अनुभव, दूरदर्शिता और गौरव नहीं पाया जाता; पर इसमें एक प्रकार का ऐसा दिलबहलाव और ताजगी रहती है जिसकी मिठास उससे दसगुना चढ़ी-बढ़ी है।

यहाँ तक हमने बाहरी बातचीत का हाल लिखा है जिसमें दूसरे फरीक के होने की बहुत आवश्यकता है, बिना किसी दूसरे मनुष्य के हुए जो किसी तरह संभव नहीं है और जो दो ही तरह पर हो सकती है—या तो कोई हमारे यहाँ कृपा करे या हमीं जाकर दूसरे को कृतार्थ करें। पर यह सब तो दुनियादारी है जिसमें कभी कभी रसाभास होते देर नहीं लगती, क्योंकि जो महाशय अपने यहाँ पधारें, उनकी पूरी दिलजोई न हो सकी तो शिष्टाचार में त्रुटि हुई। अगर हमीं उनके यहाँ गये तो पहले तो बिना बुलाए जाना ही अनादर का मूल है और जाने पर अपने मन माफिक बर्ताव न किया गया तो मानो एक दूसरे प्रकार का नया घाव हुआ। इसलिए सबसे उत्तम प्रकार बातचीत करने का हम यही समझते हैं कि हम वह शक्ति अपने में पैदा कर सकें कि अपने आप बात कर लिया करें। हमारी भीतरी मनोवृत्ति जो प्रतिक्षण नये-नये रंग दिखाया करती है, यह प्रपंचात्मक संसार का एक बड़ा भारी आईना है, जिसमें जैसी चाहो वैसी सूरत देख लेना कुछ दुर्घट बात नहीं है और जो एक ऐसा चमनिस्तान है जिसमें हर किस्म के बेल-बूटे खिले हुए हैं। ऐसे चमनिस्तान की सैर में क्या कम दिलबहलाव है? मित्रों का प्रेमालाप कभी इसकी

सोलहवीं कला तक भी न पहुँच सका। इसी सैर का नाम ध्यान या मनोयोग या चित्त को एकाग्र करना है, जिसका साधन एक-दो दिन का काम नहीं, बरसों के अभ्यास के उपरांत यदि हम थोड़ी भी अपनी मनोवृत्ति स्थित कर अवाक् हो अपने मन के साथ बातचीत कर सकें, तो मानो अहोभाग्य। एक वाक्-शक्ति-मात्र के दमन से न जाने कितने प्रकार का दमन हो गया। हमारी जिह्वा कतरनी के समान सदा स्वच्छंद चला करती है, उसे यदि हमने दबाकर काबू में कर लिया तो क्रोधादिक बड़े बड़े अजेय शत्रुओं को बिना प्रयास जीत अपने वश कर डाला। इसलिए अवाक् रह अपने आप बातचीत करने का यह साधन यावत् साधनों का मूल है, शांति का परम पूज्य मंदिर है, परमार्थ का एकमात्र सोपान है।

## अभ्यास के लिए

(१) बातचीत तथा भाषण मे क्या अन्तर है?

(२) बातचीत के कितने प्रकार है?

(३) समाज मे बातचीत करने मे सर्वश्रेष्ठ गुण क्या है?

(४) आत्म-मलाप का जीवन में क्या महत्त्व है?

(५) लेखक का परिचय दीजिए तथा उसकी शैली पर प्रकाश डालिए।

# ७—साहित्योपासक

## मुशी प्रेमचन्द

मुशी प्रेमचन्द का वास्तविक नाम धनपतराय था। आपका जन्म काशी से चार-पॉच मील उत्तर पॉडेपुर ग्राम के एक कायस्थ-परिवार मे सवत् १९३७ वि० मे हुआ था। प्रारम्भ मे प्रेमचन्दजी शिक्षा-विभाग के सब डिप्टी इन्स्पेक्टर और गोरखपुर नार्मल स्कूल के अध्यापक रहे, किन्तु १९२१ ई० के असहयोग-आन्दोलन मे इन्होने नौकरी छोड दी और साहित्य-सेवा मे जुट गये। पहले ये उर्दू गल्पकार थे। उर्दू मे पर्याप्त यशोपार्जन के अनन्तर ये हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र मे आये और वहॉ भी अपनी प्रतिभा के कारण अतुल कीर्ति एव सम्मान के अधिकारी बन गये। कुछ समय तक इन्होने 'मर्यादा' और 'माधुरी' का सम्पादन किया, तत्पश्चात् काशी मे एक प्रकाशन-कार्यालय खोला और अपने सरस्वती प्रेस से 'हस' तथा 'जागरण' पत्र निकाले। सवत् १९९३ वि० मे आप स्वर्गधाम सिधारे।

मुशी प्रेमचन्दजी हिन्दी मे युगान्तर उपस्थित कर देनेवाले कुशल कहानीकार एव उपन्यास-सम्राट् थे। इनकी छोटी-छोटी कहानियॉ अत्यन्त हृदयस्पर्शिनी एव कलापूर्ण है। मध्यश्रेणी के पारिवारिक जीवन एव देहाती-समाज का तो इनको विस्तृत एव प्रगाढ अनुभव था। नागरिक और ग्राम्य, राजनीतिक और सामाजिक, भीतरी और बाहरी सभी प्रकार के जीवन का इन्होने बडी निपुणता के साथ चित्रण किया है। इनके हृदय मे भारतीय सभ्यता एव सस्कृति के प्रति अगाध अनुराग था।

इनकी गद्यशैली अत्यन्त लोकप्रिय है। इनकी भाषा सरल, चलती हुई और साधारण बोल-चाल के शब्दो से बनी हुई है, जिसमे उर्दू एव सस्कृत के तत्सम शब्दो का सुन्दर सम्मिश्रण है। इनकी मुहावरेदानी गजब की है, जिससे इनकी शैली मे अभूतपूर्व सजीवता आ गई है।

आप सदैव किसी महान् उद्देश्य को सम्मुख रखकर लिखते थे और

इसीलिए आपकी रचनाओ मे कही-कही प्रचारक का रूप अधिक झलकता है; किन्तु प्राय. कलाकार का रूप ही सर्वोपरि रहा है।

प्रेमद्वादशी, सप्तसुमन, सप्तसरोज, प्रेमपूर्णिमा, नवनिधि, प्रेम-पच्चीसी प्रभृति इनके प्रसिद्ध कहानी-सग्रह हे, और सेवा-सदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, कर्मभूमि, गबन एव गोदान इनके सुप्रसिद्ध मौलिक उपन्यास हे। सग्राम तथा कर्बला—इनके लिखे दो नाटक भी हैं।

प्रातःकाल महाशय प्रवीण ने बीस दफा उबाली हुई चाय का प्याला तैयार किया और बिना शक्कर और दूध के पी गये। यही उनका नाश्ता था। महीनों से मीठी, दूधिया चाय न मिली थी। दूध और शक्कर उनके लिए जीवन के आवश्यक पदार्थों में न थे। घर में गये जरूर, कि पत्नी को जगाकर पैसे माँगें; पर उसे फटे-मैले लिहाफ में निद्रा-मग्न देखकर जगाने की इच्छा न हुई। सोचा, शायद मारे सर्दी के बेचारी को रात भर नींद न आई होगी, इस वक्त जाकर आँख लगी है। कच्ची नींद जगा देना उचित न था। चुपके से चले आये।

चाय पीकर उन्होंने कलम-दवात सँभाली और वह किताब लिखने में तल्लीन हो गये, जो उनके विचार में इस शताब्दी की सबसे बड़ी रचना होगी, जिसका प्रकाशन उन्हें गुमनामी से निकालकर ख्याति और समृद्धि के स्वर्ग पर पहुँचा देगा।

आध घंटे बाद पत्नी आँखें मलती हुई आकर बोली—क्या तुम चाय पी चुके? प्रवीण ने सहास मुख से कहा—हाँ, पी चुका। बहुत अच्छी बनी थी।

'पर दूध और शक्कर कहाँ से लाये?'

'दूध और शक्कर तो कई दिन से नहीं मिलता। मुझे आज-कल सादी चाय ज्यादा स्वादिष्ट लगती है। दूध और शक्कर मिलाने से उसका स्वाद बिगड़ जाता है। डाक्टरों की भी यही

राय है कि चाय हमेशा सादी पीनी चाहिए। योरप में तो दूध का बिलकुल रिवाज नहीं है। यह तो हमारे यहाँ के मधुर-प्रिय रईसों की ईजाद है।'

'जाने तुम्हें फीकी चाय कैसे अच्छी लगती है! मुझे जगा क्यों न लिया! पैसे तो रखे थे।'

महाशय प्रवीण फिर लिखने लगे। जवानी ही में उन्हें यह रोग लग गया था, और आज बीस साल से वह उसे पाले हुए थे। इस रोग में देह घुल गई, स्वास्थ्य घुल गया और चालीस की अवस्था में बुढ़ापे ने आ घेरा; पर यह रोग असाध्य था। सूर्योदय से आधी रात तक यह साहित्य का उपासक अन्तर्जगत् में डूबा हुआ, समस्त संसार से मुँह मोड़े, हृदय के पुष्प और नैवेद्य चढ़ाता रहता था। पर भारत में सरस्वती की उपासना लक्ष्मी की अभक्ति है। मन तो एक ही था। दोनों देवियों को एक साथ कैसे प्रसन्न करता, दोनों के वरदान का पात्र क्योंकर बनता, और लक्ष्मी की यह अकृपा केवल धनाभाव के रूप में न प्रकट होती थी। उसकी सबसे निर्दय क्रीड़ा यह थी, कि पत्रों के सम्पादक और पुस्तकों के प्रकाशक उदारतापूर्वक सहृदयता का दान भी न देते थे। कदाचित् सारी दुनिया ने उसके विरुद्ध कोई षड्यंत्र-सा रच डाला था। यहाँ तक कि इस निरंतर अभाव ने उसके आत्म-विश्वास को जैसे कुचल दिया था। कदाचित् अब उसे यह ज्ञात होने लगा था कि उसकी रचनाओं में कोई सार, कोई प्रतिभा नहीं है और यह भावना अत्यन्त हृदय-विदारक थी। यह दुर्लभ मानव-जीवन यों ही नष्ट हो गया! यह तस्कीन भी नहीं कि संसार ने चाहे उसका सम्मान न किया हो; पर उसकी जीवन कृति इतनी तुच्छ नहीं! जीवन की आवश्यकताएँ घटते-घटते संन्यास की सीमा को भी पार कर चुकी थीं। अगर कोई सन्तोष था, तो यह कि उनकी

जीवन-सहचरी त्याग और तप में उनसे भी दो कदम आगे थी। सुमित्रा इस दशा में भी प्रसन्न थी। प्रवीणजी को दुनिया से शिकायत हो; पर सुमित्रा जैसे गेंद में भरी हुई वायु की भाँति उन्हें बाहर की ठोकरों से बचाती रहती थी। अपने भाग्य का रोना तो दूर की बात थी, इस देवी ने कभी माथे पर बल भी न आने दिया।

सुमित्रा ने चाय का प्याला समेटते हुए कहा—तो जाकर घंटा-आध-घंटा कहीं घूम-फिर क्यों नहीं आते। जब मालूम हो गया कि प्राण देकर काम करने से भी कोई नतीजा नहीं, तो व्यर्थ क्यों सिर खपाते हो?

प्रवीण ने बिना मस्तक उठाये, कागज पर कलम चलाते हुए कहा—लिखने में कम से कम यह सन्तोष तो होता है कि कुछ कर रहा रहूँ। सैर करने में तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि समय का नाश कर रहा हूँ।

'यह इतने पढ़े-लिखे आदमी नित्य-प्रति हवा खाने जाते हैं. तो अपने समय का नाश करते हैं?'

'मगर इनमें अधिकांश वही लोग हैं, जिनके सैर करने से उनकी आमदनी में बिलकुल कमी नहीं होती। अधिकांश तो सरकारी नौकर हैं, जिनको मासिक वेतन मिलता है, या ऐसे पेशों के लोग हैं, जिनका लोग आदर करते हैं। मैं तो मिल का मजूर हूँ। तुमने किसी मजूर को हवा खाते देखा है? जिन्हें भोजन की कमी नहीं, उन्हीं को हवा की भी जरूरत है। जिनको रोटियों के लाले हैं, वे हवा खाने नहीं जाते। फिर स्वास्थ्य और जीवन-वृद्धि की जरूरत उन लोगों को है, जिनके जीवन में आनन्द और स्वाद है। मेरे लिए तो जीवन भार है। इस भार को सिर पर कुछ दिन और बनाए रहने की अभिलाषा मुझे नहीं है।'

सुमित्रा ये निराशा में डूबे हुए शब्द सुनकर आँखों में आँसू भरे अन्दर चली गई। उसका दिल कहता था, इस तपस्वी की कीर्ति-कौमुदी एक दिन अवश्य फैलेगी, चाहे लक्ष्मी की अकृपा बनी रहे। किन्तु प्रवीण महोदय अब निराशा की उस सीमा तक पहुँच चुके थे, जहाँ से प्रतिकूल दिशा में उदय होनेवाली आशामय उषा की लाली भी नहीं दिखाई देती।

( २ )

एक रईस के यहाँ कोई उत्सव है। उसने महाशय प्रवीण को भी निमंत्रित किया है। आज उनका मन आनन्द के घोड़े पर बैठा हुआ नाच रहा है। सारे दिन वह इसी कल्पना में मग्न रहे। राजा साहब किन शब्दों में उनका स्वागत करेंगे और वह किन शब्दों में उनको धन्यवाद देंगे; किन प्रसंगों पर वार्तालाप होगा, और किन महानुभावों से उनका परिचय होगा; सारे दिन वह इन्हीं कल्पनाओं का आनन्द उठाते रहे। इस अवसर के लिए उन्होंने एक कविता भी रची, जिसमें जीवन की तुलना एक उद्यान से की थी। अपनी सारी धारणाओं की उन्होंने आज उपेक्षा कर दी। क्योंकि रईसों के मनोभावों को वह आघात न पहुँचा सकते थे।

दोपहर ही से उन्होंने तैयारियाँ शुरू कीं। हजामत बनाई, साबुन से नहाया, सिर में तेल डाला। मुश्किल कपड़ों की थी। मुद्दत गुजरी, जब उन्होंने एक अचकन बनवाई थी। उसकी दशा भी उन्हीं की दशा जैसी जीर्ण हो चुकी थी। जैसे जरा-सी सर्दी या गर्मी से उन्हें जुकाम या सिर-दर्द हो जाता था, उसी तरह वह अचकन भी नाजुक-मिजाज थी। उसे निकाला और झाड़-पोंछकर रक्खा।

सुमित्रा ने कहा—तुमने व्यर्थ ही यह निमंत्रण स्वीकार

किया। लिख देते, मेरी तबीअत अच्छी नहीं है। इन फटे-हालों जाना तो और भी बुरा है।

प्रवीण ने दार्शनिक गंभीरता से कहा—जिन्हें ईश्वर ने हृदय और परख दी है, वे आदमियों की पोशाक नहीं देखते—उसके गुण और चरित्र देखते हैं। आखिर कुछ बात तो है कि राजा साहब ने मुझे निमंत्रित किया। मैं कोई ओहदेदार नहीं, जमादार नहीं, जागीरदार नहीं, ठेकेदार नहीं, केवल एक साधारण लेखक हूँ। लेखक का मूल्य उसकी रचनाएँ होती हैं। इस एतबार से मुझे किसी भी लेखक से लज्जित होने का कारण नहीं है।

सुमित्रा उसकी सरलता पर दया करके बोली—तुम कल्पनाओं के संसार में रहते-रहते प्रत्यक्ष संसार से अलग हो गए हो। मैं कहती हूँ, राजा साहब के यहाँ लोगों की निगाह सबसे ज्यादा कपड़ों ही पर पड़ेगी। सरलता जरूर अच्छी चीज है; पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि आदमी फूहड़ बन जाय।

प्रवीण को इस कथन में कुछ सार जान पड़ा। विद्वज्जनों की भाँति उन्हें भी अपनी भूलों को स्वीकार करने में कुछ विलम्ब न होता था। बोले—मैं समझता हूँ, दीपक जल जाने के बाद जाऊँ।

'मैं तो कहती हूँ, जाओ ही क्यों?'

'अब तुम्हें कैसे समझाऊँ, प्रत्येक प्राणी के मन में आदर और सम्मान की एक क्षुधा होती है। तुम पूछोगी यह क्षुधा क्यों होती है? इसलिए कि यह हमारे आत्म-विकास की एक मंजिल है। हम उस महासत्ता के सूक्ष्मांश हैं, जो समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। अंश में, पूर्ण (अंशी) के गुणों का होना लाजिमी है। इसलिए कीर्ति और सम्मान, आत्मोन्नति और

ज्ञान की ओर हमारी स्वाभाविक रुचि है। मैं इस लालसा को बुरा नहीं समझता।

सुमित्रा ने गला छुड़ाने के लिए कहा—अच्छा भई जाओ, मैं तुमसे बहस नहीं करती, लेकिन कल के लिए कोई व्यवस्था करते आना; क्योंकि मेरे पास केवल एक आना और रह गया है। जिनसे उधार मिल सकता था, उनसे ले चुकी और जिससे लिया, उसे देने की नौबत नहीं आई। मुझे तो अब और कोई उपाय नहीं सूझता।

प्रवीण ने एक क्षण के बाद कहा—दो एक पत्रिकाओं से मेरे लेखों के रुपये आनेवाले हैं। शायद कल तक आ जायँ और अगर कल उपवास ही करना पड़े, तो क्या चिंता। हमारा धर्म है काम करना। हम काम करते हैं और तन-मन से करते हैं। अगर इस पर भी हमें फाका करना पड़े, तो मेरा दोष नहीं। मर ही तो जाऊँगा। हमारे जैसे लाखों आदमी रोज मरते हैं। संसार का काम ज्यों का त्यों चलता रहता है। फिर इसका क्या गम कि हम भूखों मर जायेंगे। मौत डरने की वस्तु नहीं। मैं तो कबीर पंथियों का कायल हूँ, जो अर्थी को गाते-बजाते ले जाते हैं। मैं इससे नहीं डरता। तुम्हीं कहो, मैं जो कुछ करता हूँ, इससे अधिक और कुछ मेरी शक्ति के बाहर है या नहीं। सारी दुनिया मीठी नींद सोती होती है और मैं कलम लिये बैठा होता हूँ। लोग हँसी-दिल्लगी, आमोद-प्रमोद करते रहते हैं, मेरे लिए वह सब हराम है। यहाँ तक कि महीनों से हँसने की नौबत नहीं आई। होली के दिन भी मैंने तातील नहीं मनाई। बीमार भी होता हूँ, तो लिखने की फिक्र सिर पर सवार रहती है। सोचो, तुम बीमार थीं, और मैं वैद्य के यहाँ जाने के लिए समय न पाता था। अगर दुनिया कदर नहीं करती न करे, इसमें दुनिया का ही नुकसान है। मेरी कोई

हानि नहीं। दीपक का काम है जलना। उसका प्रकाश फैलता है या उसके सामने कोई ओट है, उसे इससे प्रयोजन नहीं। मेरा भी ऐसा कौन मित्र, परिचित या सम्बन्धी है, जिसका मैं आभारी नहीं, यहाँ तक कि अब घर से निकलते शर्म आती है। संतोष इतना ही है कि लोग मुझे बदनीयत नहीं समझते। वे मेरी कुछ अधिक मदद न कर सकें; पर उन्हें मुझसे सहानुभूति अवश्य है। मेरी खुशी के लिए इतना ही काफी है कि आज वह अवसर तो आया कि एक रईस ने मेरा सम्मान किया।

फिर सहसा उन पर एक नशा-सा छा गया। गर्व से बोले—नहीं, मैं अब रात को न जाऊँगा। मेरी गरीबी अब रुसवाई की हद तक पहुँच चुकी है। उस पर परदा डालना व्यर्थ है। मैं इसी वक्त जाऊँगा। जिसे रईस और राजे आमंत्रित करें, वह कोई ऐसा-वैसा आदमी नहीं हो सकता। राजा साहब साधारण रईस नहीं हैं। वह इस नगर के ही नहीं, भारत के विख्यात रईसों में हैं। अगर अब भी कोई मझे नीचा समझे तो वह खुद नीचा है।

( ३ )

संध्या का समय है। प्रवीणजी अपनी फटी-पुरानी अचकन और सड़े हुए जूते और बेढंगी-सी टोपी पहने घर से निकले। ख्वामख्वाह बाँगडू उचक्के से मालूम होते थे। डील-डौल और चेहरे-मुहरे के आदमी होते, तो इस ठाठ में भी एक शान होती। स्थूलता स्वयं रोब डालनेवाली वस्तु है। पर साहित्य-सेवा और स्थूलता में विरोध है। अगर कोई साहित्य-सेवी मोटा-ताजा, डबल आदमी है, तो समझ लो उसमें माधुर्य नहीं, लोच नहीं, हृदय नहीं। दीपक का काम है, जलना। दीपक

वही लबालब भरा होगा, जो जला नहीं। 'अकबर' ने कहा है—

"शिकम होता तो मैं इस अहद में फूला-फला होता।
सरापा-दिल बना हूँ इस सबब से कुश्तए-गम हूँ॥"

फिर भी आप अकड़े जाते हैं। एक-एक अंग से गर्व टपक रहा है।

यों घर से निकलकर वह दूकानदारों से आँखें चुराते, गलियों से निकल जाते थे। पर आज वह गरदन उठाये, उनके सामने से जा रहे हैं। आज वह उनके तकाजों का मुँहतोड़ जवाब देने को तैयार हैं। पर संध्या का समय है, हरएक दूकान पर ग्राहक बैठे हुए हैं। कोई उनकी तरफ नहीं देखता। जिस रकम को वह अपनी हीनावस्था में दुर्निवार समझते थे, वह दूकानदारों की निगाह में इतनी जोखिम न थी, कि एक जाने-पहचाने आदमी को सरे-बाजार टोकते, विशेषकर जब वह आज किसी से मिलने जाते हुए मालूम होते थे।

प्रवीण ने एक बार सारे बाजार का चक्कर लगाया, पर जी न भरा। तब दूसरा चक्कर लगाया, पर वह भी निष्फल। तब वह खुद हाफिज समद की दूकान पर जाकर खड़े हो गये। हाफिजजी बिसाते का कारोबार करते थे। बहुत दिन हुए, प्रवीण इस दूकान से एक छतरी ले गये थे और अभी तक दाम न चुका सके थे। प्रवीण को देखकर बोले—महाशयजी, अभी तक छतरी के दाम नहीं मिले। ऐसे सौ-पचास गाहक मिल जायँ, तो दिवाला ही हो जाय। अब तो बहुत दिन हुए।

प्रवीण की बाछें खिल गईं। दिली मुराद पूरी हुई। बोले—मैं भूला नहीं हूँ हाफिजजी, इन दिनों काम इतना ज्यादा था कि घर से निकलना मुश्किल था। रुपये तो नहीं हाथ आते; पर आपकी दुआ से कदरदानों की कमी नहीं। दो-चार आदमी

घेरे ही रहते हैं। इस वक्त भी राजा साहब—अजी वही जो नुक्कड़वाले बँगले में रहते हैं—उन्हीं के यहाँ जा रहा हूँ। दावत है। रोज ऐसा कोई न कोई मौका आता ही रहता है।

हाफिज समद प्रभावित होकर बोला—अच्छा! आप राजा साहब के यहाँ तशरीफ ले जा रहे हैं! ठीक है, आप जैसे बा-कमालों की कद्र रईस ही कर सकते हैं, और कौन करेगा; सुभानल्लाह! आप इस जमाने में यकता हैं। अगर कोई मौका हाथ आ जाय, तो गरीबों को न भूल जाइएगा। राजा साहब की अगर इधर निगाह हो जाये, तो फिर क्या पूछना। एक पूरा बिसाता तो उन्हीं के लिए चाहिए। ढाई-तीन लाख सालाना आमदनी है।

प्रवीण को ढाई-तीन लाख कुछ तुच्छ जान पड़े। जबानी जमा-खर्च है, तो दस-बीस लाख कहने में क्या हानि। बोले—ढाई-तीन लाख! आप तो उन्हें गालियाँ देते हैं। उनकी आमदनी दस लाख से कम नहीं। एक साहब का अंदाजा तो बीस लाख का है। इलाका है, मकानात हैं, दूकानें हैं, ठेका है, अमानती रुपये हैं, और फिर सबसे बड़ी सरकार-बहादुर की निगाह है।

हाफिज ने बड़ी नम्रता से कहा—यह दूकान आप ही की है जनाब, बस इतनी ही अरज है। अरे मुरादी, जरा दो पैसे के अच्छे-से पान तो बनवा ला, आपके लिए। आइए, दो मिनट बैठिए। कोई चीज पसन्द हो तो दिखाऊँ। आपसे तो घर का वास्ता है।

प्रवीण ने पान खाते हुए कहा—इस वक्त तो मुआफ रखिए। वहाँ देर होगी। फिर कभी हाजिर हूँगा।

वहाँ से उठकर वह एक कपड़ेवाले की दूकान के सामने रुके। मनोहरदास नाम था। इन्हें खड़े देखकर आँखें उठाई। बेचारा इनके नाम को रो बैठा था। समझ लिया शायद शहर

में हैं ही नहीं। समझा रुपये देने आये हैं। बोला—भाई प्रवीण-जी! आपने तो बहुत दिनों दर्शन ही नहीं दिये। रुक्का कई बार भेजा, मगर प्यादे को आपके घर का पता ही न मिला। मुनीमजी, जरा देखो तो आपके नाम क्या है?

प्रवीणजी के प्राण तकाजों से सूख जाते थे; पर आज वह इस तरह खड़े थे, मानो उन्होंने कोई कवच धारण कर लिया है, जिस पर किसी अस्त्र का आघात नहीं हो सकता। बोले—जरा इन राजा साहब के यहाँ से लौट आऊँ, तो निश्चिंत होकर बैठूँ। इस समय जल्दी में हूँ।

राजा साहब पर मनोहरदास के कई हजार रुपये आते थे। फिर भी उनका दामन न छोड़ता था। एक के तीन वसूल करता। उसने प्रवीणजी को उसी श्रेणी में रखा, जिसका पेशा रईसों को लूटना है। बोला—पान तो खाते जाइए, महाशय। राजा साहब एक दिन के हैं, हम तो बारहों मास के हैं। भाई साहब! कुछ कपड़े दरकार हों, तो ले जाइए। अब तो होली आ रही है। मौका हो तो जरा राजा साहब के खजांची से कहिएगा, पुराना हिसाब बहुत दिन से पड़ा हुआ है, अब तो सफाई हो जाय। अब हम ऐसा कौन-सा नफा ले लेते हैं कि दो-दो साल हिसाब ही न हो।

प्रवीण ने कहा—इस समय तो पान-वान रहने दो, भाई। देर हो जायगी। जब उन्हें मुझसे मिलने का इतना शौक है और मेरा इतना सम्मान करते हैं, तो अपना भी धर्म है कि उनको मेरे कारण कष्ट न हो। हम तो गुण-ग्राहक चाहते हैं, दौलत के भूखे नहीं। कोई अपना सम्मान करे, तो उसकी गुलामी करें। अगर किसी को रियासत का घमंड हो, तो हमें भी उसकी परवाह नहीं।

( ४ )

प्रवीणजी राजा साहब के विशाल भवन के सामने पहुँचे, तो दीये जल चुके थे। अमीरों और रईसों की मोटरें खड़ी थीं। वरदी-पोश दरबान द्वार पर खड़े थे। एक सज्जन मेहमानों का स्वागत कर रहे थे। प्रवीणजी को देखकर वह जरा झिझके। फिर उन्हें सिर से पाँव तक देखकर बोले—आपके पास नवेद है?

प्रवीण की जेब में नवेद था। पर इस भेद-भाव पर उन्हें क्रोध आ गया। उन्हीं से क्यों नवेद माँगा जाय? औरों से भी क्यों न पूछा जाय? बोले—जी नहीं, मेरे पास नवेद नहीं है। अगर आप अन्य महाशयों से नवेद माँगते हों, तो मैं भी दिखा सकता हूँ। वरना मैं इस भेद को अपने लिए अपमान की बात समझता हूँ। आप राजा साहब से कह दीजिएगा, प्रवीणजी आये थे और द्वार से लौट गये।

'नहीं-नहीं, महाशय, अन्दर चलिए। मुझे आपसे परिचय न था। बेअदबी माफ कीजिए। आप ही जैसे महानुभावों से तो महफिल की शोभा है। ईश्वर ने आपको वह वाणी प्रदान की है कि क्या कहना।'

इस व्यक्ति ने प्रवीण को कभी न देखा था। लेकिन जो कुछ उसने कहा, वह हर एक साहित्यसेवी के विषय में कह सकते हैं, और हमें विश्वास है कि कोई साहित्यसेवी इस दाद की उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रवीण अन्दर पहुँचे, तो देखा, बारहदरी के सामने विस्तृत और सुसज्जित प्रांगण में बिजली के कुमकुमे अपना प्रकाश फैला रहे हैं। मध्य में एक हौज है, हौज में संगमरमर की परी, परी के सिर पर फव्वारा; फव्वारे की फुहारें रंगीन कुम-कुमों से रंजित होकर ऐसी मालूम होती थीं, मानो इन्द्र-धनुष

पिघलकर ऊपर से बरस रहा है। हौज के चारों ओर मेजें लगी हुई थीं। मेजों पर सफेद-मेजपोश, ऊपर सुन्दर गुलदस्ते।

प्रवीण को देखते ही राजा साहब ने स्वागत किया—आइए, आइए। अब की 'हंस' में आपका लेख देखकर दिल फड़क उठा। मैं तो चकित हो गया। मालूम ही न था कि इस नगर में आप जैसे रत्न भी छिपे हुए हैं।

फिर उपस्थित सज्जनों से उनका परिचय देने लगे—आपने महाशय प्रवीण का नाम तो सुना होगा। वह आप ही हैं। क्या माधुर्य है, क्या प्रसाद है, क्या ओज है, क्या भाव है, क्या भाषा है, क्या सूझ है, क्या चमत्कार है, क्या प्रवाह है, कि वाह! वाह! मेरी तो आत्मा जैसे नृत्य करने लगती है।

एक सज्जन ने, जो अँगरेजी सूट में थे, प्रवीण को ऐसी निगाह से देखा, मानो वह चिड़िया-घर के कोई जीव हों, और बोले—आपने अँगरेजी के कवियों का भी अध्ययन किया है—बाइरन, शेली, कीट्स आदि?

प्रवीण ने रुखाई से जवाब दिया—जी हाँ, थोड़ा बहुत देखा तो है।

'आप इन महाकवियों में से किसी की रचनाओं का अनुवाद कर दें, तो आप हिन्दी-भाषा की अमर सेवा करें।'

प्रवीण अपने को बाइरन, शेली आदि से जौ भर भी कम न समझते थे। वे अँगरेजी के कवि थे, उनकी भाषा, शैली, विषय, व्यंजना, सभी अँगरेजों की रुचि के अनुकूल थी। उनका अनुवाद करना वह अपने लिए गौरव की बात न समझते थे, उसी तरह जैसे वे उनकी रचनाओं का अनुवाद करना अपने लिए गौरव की वस्तु न समझते। बोले—हमारे यहाँ आत्मदर्शन का अभी इतना कम अभाव नहीं है, कि हम विदेशी कवियों

से भिक्षा माँगें। मेरा विचार है कि कम से कम इस विषय में भारत अब भी पश्चिम को कुछ सिखा सकता है।

यह अनर्गल बात थी। अँगरेजी के भक्त महाशय ने प्रवीण को पागल समझा।

राजा साहब ने प्रवीण को ऐसी आँखों से देखा, जो कह रही थीं—जरा मौका-महल देखकर बातें करो, और बोले—अँगरेजी-साहित्य का क्या पूछना! कविता में तो वह अपना जोड़ नहीं रखता।

अँगरेजी के भक्त महाशय ने प्रवीण को सगर्व नेत्रों से देखा—हमारे कवियों ने अभी तक कविता का अर्थ ही नहीं समझा। अभी तक वियोग और नख-शिख को कविता का आधार बनाये हुए हैं।

प्रवीण ने ईंट का जवाब पत्थर से दिया—मेरा विचार है, कि आपने वर्तमान कवियों का अध्ययन नहीं किया, या किया, तो ऊपरी आँखों से।

राजा साहब ने अब प्रवीण की जबान बन्द कर देने का निश्चय किया—आप मिस्टर परांजपे हैं। प्रवीणजी, आपके लेख अँगरेजी पत्रों में छपते हैं और बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

इसका आशय यह था, कि अब आप ज्यादा न बहकिए।

प्रवीण समझ गये। परांजपे के सामने उन्हें नीचा देखना पड़ा। विदेशी वेश-भूषा और भाषा का यह भक्त इतना सम्मान पाये, यह उनके लिए असह्य था; पर करते क्या?

उसी वेश के एक दूसरे सज्जन आये। राजा साहब ने तपाक से उनका अभिवादन किया—आइए डाक्टर चड्ढा, कैसे मिजाज हैं?

डाक्टर साहब ने राजा साहब से हाथ मिलाया और फिर प्रवीण की ओर जिज्ञासा-भरी आँखों से देखकर पूछा—आपकी तारीफ ?

राजा साहब ने प्रवीण का परिचय दिया—आप महाशय प्रवीण हैं। आप हिन्दी भाषा के अच्छे कवि और लेखक हैं।

डाक्टर साहब ने एक खास अन्दाज से कहा—'अच्छा ! आप कवि हैं !' और बिना कुछ पूछे आगे बढ़ गये।

फिर उसी वेश के एक और महाशय पधारे। यह नामी बैरिस्टर थे। राजा साहब ने उनसे भी प्रवीण का परिचय कराया। उन्होंने भी उसी अन्दाज से कहा—'अच्छा। आप कवि हैं ?' और आगे बढ़ गये।

यह अभिनय कई बार हुआ। और हर बार प्रवीण को यही दाद मिली—'अच्छा ! आप कवि हैं ?'

यह वाक्य हर बार प्रवीण के हृदय पर एक नया आघात पहुँचाता था। उसके नीचे जो भाव था, वह प्रवीण खूब समझते थे। उसका सीधा-सादा आशय यह था—तुम अपने खयाली पुलाव पकाते हो, पकाओ, यहाँ तुम्हारा क्या प्रयोजन ? तुम्हारा इतना साहस कि तुम इस सभ्य समाज में बेधड़क आओ।

प्रवीण मन ही मन अपने ऊपर झुँझला रहे थे। निमंत्रण पाकर उन्होंने अपने को धन्य माना था; पर यहाँ आकर उनका जितना अपमान हो रहा था, उसके देखते तो वह संतोष की कुटिया, स्वर्ग थी। उन्होंने अपने मन को धिक्कारा—तुम जैसे सम्मान के लोभियों का यही दण्ड है। अब तो आँखें खुलीं, तुम कितने सम्मान के पात्र हो ! तुम इस स्वार्थमय संसार में किसी के काम नहीं आ सकते। वकील-बैरिस्टर तुम्हारा सम्मान क्यों करें ? तुम उनके मुवक्किल नहीं हो सकते, न उन्हें तुम्हारे

द्वारा कोई मुकदमा पाने की आशा है। डाक्टर या हकीम तुम्हारा सम्मान क्यों करें? उन्हें तुम्हारे घर बिना फीस आने की इच्छा नहीं। तुम लिखने के लिए बने हो, लिखे जाओ। बस, संसार में तुम्हारा और कोई प्रयोजन नहीं।

सहसा लोगों में हलचल पड़ गई। आज के प्रधान अतिथि का आगमन हुआ। यह महाशय हाईकोर्ट के जज नियुक्त हुए थे। इसी उपलक्ष्य में यह जल्सा हो रहा था। राजा साहब ने लपककर उनसे हाथ मिलाया और आकर प्रवीणजी से बोले—आप अपनी कविता तो लिख ही लाये होंगे?

प्रवीण ने कहा—मैंने कोई कविता नहीं लिखी।

'सच! तब तो आपने गजब ही कर दिया। अरे भले आदमी, अब कोई चीज लिख डालो। दो ही चार पंक्तियाँ हो जायँ। बस! ऐसे अवसर पर एक कविता का पढ़ा जाना लाजिमी है।'

'मैं इतनी जल्द कोई चीज नहीं लिख सकता।

'मैंने व्यर्थ ही इतने आदमियों से आपका परिचय कराया!'

'बिलकुल व्यर्थ।'

'अरे भाईजान, किसी प्राचीन कवि की ही कोई चीज सुना दीजिए। यहाँ कौन जानता है?'

'जी नहीं, क्षमा कीजिएगा। मैं भाट नहीं हूँ, न कथक हूँ।'

यह कहते हुए प्रवीणजी तुरन्त वहाँ से चल दिये। घर पहुँचे, तो उनका चेहरा खिला हुआ था।

सुमित्रा ने प्रसन्न होकर पूछा—इतनी जल्द कैसे आ गये?

'मेरी वहाँ कोई जरूरत न थी।'

'चलो चेहरा खिला हुआ है। खूब सम्मान हुआ होगा।'

'हाँ सम्मान तो जैसी आशा न थी वैसा हुआ।'

'खुश बहुत हो?'

'इसी से कि आज मुझे हमेशा के लिए सबक मिल गया। मैं दीपक हूँ और जलने के लिए बना हूँ। आज मैं इस तत्त्व को भूल गया था। ईश्वर ने मुझे ज्यादा बहकने न दिया। मेरी यह कुटिया ही मेरे लिए स्वर्ग है। मैं आज यह तत्त्व पा गया कि साहित्य-सेवा पूरी तपस्या है।'

## अभ्यास के लिए

(१) साहित्योपासक कहानी का सार अपने शब्दो मे लिखिए।
(२) प्रवीण का चरित्र-चित्रण कीजिए।
(३) 'साहित्योपासक' कहानी से क्या शिक्षा मिलती है?
(४) प्रेमचद की शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

---

# ८—विजयादशमी

काका कालेलकर

काका कालेलकर का पूरा नाम दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर है। आप महाराष्ट्र-निवासी है। आपने पूना के सुप्रसिद्ध फर्ग्यूसन कालेज मे शिक्षा प्राप्त की है। गाधीवादी धारा के आप एक सुप्रसिद्ध विचारक एव लेखक है। आपने साहित्यिक, राजनीतिक तथा सामाजिक विषयो पर उच्च कोटि के मौलिक निबध लिखे है। देवनागरी लिपि मे अनेक सुधारों की ओर भी आपने महत्त्वपूर्ण सकेत किये है। सरता साहित्य-मडल द्वारा

आपकी अनेक पुस्तकें हिन्दी में अनूदित हो चुकी हैं। यह 'विजयादशमी' लेख आपकी 'जीवन-साहित्य' पुस्तक से लिया गया है।

दशहरे का त्योहार भिन्न-भिन्न कालीन भिन्न-भिन्न पुटों से बना है। दशहरे के त्योहार में असंख्य युगों के असंख्य प्रकार के आर्य-पुरुषार्थ की विजय समाविष्ट है।

मनुष्यों का पारस्परिक युद्ध जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही अथवा उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण युद्ध, मनुष्य और प्रकृति का है। मनुष्य की प्रकृति पर सबसे बड़ी विजय खेती है। जिस दिन मनुष्य जमीन जोतकर, उसमें नव-धान्य बोकर कृत्रिम जल से उसका सिंचन कर, उससे अपनी आजीविका और भविष्य के संग्रह के लिए आवश्यक अनाज प्राप्त कर सका, वही उसकी बड़ी से बड़ी विजय का दिन था। उस दिन की स्मृति को हमेशा ताजा रखना कृषि-प्रधान आर्य लोगों का प्रथम कर्त्तव्य था।

बीसवीं सदी भौतिक और यान्त्रिक अन्वेषण की सदी मानी जाती है, और वह ठीक भी है। मनुष्य-जाति के अस्तित्व और संस्कृति में जो महान् अन्वेषण कारणीभूत हुए हैं, वे सब आदि युग में ही आविष्कृत हुए हैं। जमीन जोतने की कला, सूत कातने की कला, आग सुलगाने की कला और मट्टी से पक्का घड़ा बनाने की कला—ये चार कलाएँ मानवी संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। इन चारों कलाओं का उपयोग करके विजयादशमी के दिन हमने कृषि-महोत्सव की रचना की है।

विजयादशमी के त्योहार में चातुर्वर्ण्य एकत्र दिखाई देता है। ब्राह्मणों का सरस्वती-पूजन और विद्यारम्भ, क्षत्रियों का शस्त्र-पूजन, अश्वपूजन और सीमोल्लंघन और वैश्यों की

खेती—ये तीनों बातें इस त्योहार में एकत्र होती हैं; और जहाँ इतना बड़ा काम हो, वहाँ शूद्रों की परिचर्या तो समाविष्ट हुई ही समझिए। देहात के लोग नवरात्र के अनाज के सोने जैसे जवारे तोड़कर पगड़ी में खोंस लेते हैं और बढ़िया पोशाक पहनकर बाजे-गाजे के साथ सीमोल्लंघन करने जाते हैं। उस समय ऐसा दृश्य दिखाई देता है, मानो वे सारे देश का पौरुष व पराक्रम दिखाने के लिए बाहर निकल रहे हों।

दशहरे का उत्सव जिस प्रकार कृषि-प्रधान है, उसी प्रकार क्षात्र महोत्सव भी है। जब किराये के सैनिकों को मुरगों की तरह लड़ाने की प्रथा न थी, तब क्षात्र-तेज और राज-तेज किसानों में ही परिवर्द्धित होता था। किसान का अर्थ है क्षेत्रपति—क्षत्रिय, जो साल भर तक धरती-माता की सेवा करता है। वही प्रसंग पड़ने पर उसकी रक्षा भी करती है। नदी, नाले, पहाड़, पहाड़ी के साथ जिसका रात-दिन संबंध रहता है, जो घोड़े, बैल जैसे पशुओं को शिक्षा दे सकता है, अनेक मजदूरों को जो आजीविका दे सकता है और सारे समाज की जो उदर-पूर्ति करता है, उसके अन्दर यदि राजत्व के समस्त गुण वृद्धि पावें तो आश्चर्य की क्या बात है? जो राजा है वही किसान है और जो किसान है वही राजा है।

इस अवस्था में कृषि-त्योहार के क्षात्र-त्योहार हो जाने में सोलहों आना ऐतिहासिक औचित्य है। क्षत्रियों का मुख्य कर्त्तव्य है—स्वदेश-रक्षा। पर कितनी ही बार, इसके पहले कि शत्रु स्वदेश में घुसकर देश को नष्ट-भ्रष्ट करे, उसके दुष्ट-हेतु का पता पाकर स्वयं ही सीमोल्लंघन करके—अर्थात् अपनी हद को लाँघकर शत्रु के ही देश में लड़ाई ले जाना ठीक और वीरोचित होता है।

थोड़ा ही विचार करने से ज्ञात हो जायगा कि इसी सीमोल्लंघन के मूल में आगे साम्राज्य-भाव विद्यमान है। अपनी हद से बढ़कर दूसरे के देश पर कब्जा करना, वहाँ से धन-धान्य लूटकर लाना, इसमें धर्म-भाव की अपेक्षा महत्त्वाकांक्षा का अंश अधिक है। इस प्रकार लूटकर लाये सोने को यदि पराक्रमी पुरुष अपने पास ही रक्खें तो वर्तमान युग के क्षात्र-प्रकोप ( Militarism ) के साथ वैश्य-प्रकोप ( Industrialism ) के सम्मेलन की भयंकर स्थिति उत्पन्न हो जाय। प्रभुत्व और पूँजी जहाँ एकत्र हैं, वहाँ शैतान को अलहदा निमंत्रण देने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी लिए दशहरे के दिन लूटकर लाया सोना तमाम स्वजनों में बाँट देना उस दिन की एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक विधि निश्चित की गई है।

सुवर्ण बाँट देने की प्रथा का सम्बन्ध रघुवंश के राजा रघु के साथ भी जुड़ा हुआ है।

रघु राजा ने विश्वजित् यज्ञ किया था। समुद्र-वलयांकित पृथ्वी को जीतने के बाद सर्वस्व दान कर देना, इसका नाम विश्वजित् यज्ञ है। ऐसा विश्वजित् यज्ञ कर चुकने के बाद रघु राजा के पास वरतंतु ऋषि का शिष्य विद्वान् और तेजस्वी कौत्स आया। कौत्स ने अपने गुरु से चौदह विद्याएँ ग्रहण की थीं और उसकी दक्षिणा के लिए चौदह कोटि सुवर्ण मुद्रा गुरु को देने का संकल्प किया था; परन्तु सर्वस्व दान कर चुकने के बाद मिट्टी के बरतनों के द्वारा रघु को आदरातिथ्य करते देखकर कौत्स ने उससे कुछ भी याचना करने का विचार छोड़ दिया। राजा को आशीर्वाद करके वह जाने लगा। रघु ने आग्रह-पूर्वक उसे रोक रक्खा और दूसरे दिन स्वर्ग पर चढ़ाई करके इन्द्र और कुबेर से धन लाने की युक्ति सोची। रघु चक्रवर्ती राजा था। इससे इन्द्र और कुबेर भी उसके मांडलिक थे।

ब्राह्मण को दान करने के लिए उनसे कर वसूल करने में संकोच किस बात का ? रघु राजा की चढ़ाई की बात सुनकर देवता डर गये—उन्होंने एक शमी के पेड़ पर सुवर्ण-मुद्रा की वृष्टि की। रघु राजा ने सुबह उठकर देखा तो जितना चाहिए उतना सुवर्ण मौजूद है। उसने वह ढेर कौत्स को दे दिया। कौत्स चौदह करोड़ से अधिक लेता नहीं था और राजा दान में दिया धन वापस नहीं चाहता था। अन्त को उसने वह धन नगर-वासियों को लुटा दिया। वह दिन था—आश्विन सुदी १०। इससे आज भी लोग दशहरे के दिन शमी का पूजन करके उसके पत्तों को सोना समझकर लूटते हैं और एक दूसरे को देते हैं। कितने ही लोग शमी के नीचे की मिट्टी को भी सुवर्ण मानकर ले जाते हैं।

शमी का पूजन बहुत प्राचीन है। ऐसा माना जाता है कि शमी के पेड़ में ऋषियों का तपस्तेज है। प्राचीन समय में शमी की लकड़ी एक दूसरी पर घिसकर आग सुलगाते थे। शमी की समिधा आहुति के काम आती है। पाण्डव जब अज्ञातवास करने गये थे, तब उन्होंने अपने हथियार एक शमी के पेड़ पर छिपा रक्खे थे; और इसलिए कि कोई वहाँ जा न पावे, एक नर-कंकाल उस पेड़ में बाँध रक्खा था।

राम ने रावण पर जो चढ़ाई की सो भी विजयादशमी मुहूर्त्त पर। आर्य लोगों ने—हिन्दू लोगों ने—अनेक बार विजयादशमी के मुहूर्त्त पर चढ़ाई करके विजय प्राप्त की है। इससे विजयादशमी राष्ट्रीय विजय का मुहूर्त्त अथवा त्योहार हो गया है। मराठे और राजपूत इसी मुहूर्त्त पर स्वराज की सीमा बढ़ाने के लिए शत्रु के देश पर आक्रमण करते थे। शस्त्रास्त्र से सजकर, हाथी-घोड़े पर चढ़कर, नगर के बाहर जुलूस ले जाने की प्रथा आज भी है। वहाँ शमी का और

अपराजित देवी का पूजन सीमोल्लंघन का मुख्य भाग है। पुराणों में कथा है कि महिषासुर से श्रीजगदम्बा ने नौ दिन युद्ध करके विजयादशमी के दिन उसका वध किया। इसी से अपराजित की पूजा और महिष ( भैंसे ) का बलिदान करने की प्रथा पड़ी है।

ऐसा माना जाता है कि शमी और अश्मन्तक वृक्ष में भी शत्रु के नाश करने का गुण है। अश्मन्तक कहते हैं उस्तुरा के पेड़ को। जहाँ शमी नहीं मिलती है, वहाँ उस्तुरे के पेड़ की पूजा होती है। उस्तुरे के पत्ते का आकार सोने के सिक्के की तरह गोल होता और जुड़े हुए कार्ड ( Reply Card ) की तरह उसके पत्ते मुड़े हुए होते हैं, जिससे वे खूबसूरत दिखाई देते हैं।

दशहरे के दिनों तक चौमासा लगभग समाप्त हो जाता है। शिवाजी के किसान सैनिक दशहरे तक खेती की चिन्ता से मुक्त हो जाते थे। कुछ भी काम शेष न रहता था। केवल एक ही फसल काटनी रह जाती थी। पर उसे तो घर की औरतें, बच्चे और बूढ़े लोग कर सकते थे। इससे सेना इकट्ठी करके स्वराज्य की सीमा बढ़ाने के लिए सबसे निकटवर्ती मुहूर्त्त दशहरे का था। इसी कारण महाराष्ट्र में दशहरे का त्योहार अत्यन्त लोक-प्रिय था और वह आज भी ज्यों का त्यों है।

हम देख चुके हैं कि विजयादशमी एक त्योहार पर अनेक संस्कारों, अनेक संस्करणों और अनेक विश्वासों की तहें चढ़ी हुई हैं। कृषि-महोत्सव क्षात्र-महोत्सव हो गया। सीमोल्लंघन का परिणाम दिग्विजय तक पहुँचा। स्व-संरक्षण के साथ सामाजिक प्रेम और धन का विभाग करने की प्रवृत्ति का संबंध दशहरे के समय जुड़ा। परन्तु एक ऐतिहासिक घटना को अभी हम दशहरे के साथ जोड़ना भूल गये हैं। वह इस युग में अधिक

महत्त्वपूर्ण है। "दिग्विजय से धर्मजय श्रेष्ठ है। बाह्य शत्रु का वध करने से हृदयस्थ षड्रिपुओं को मारने में ही महान् पुरुषार्थ है; नव धान्य की फसल की अपेक्षा पुण्य की फसल अधिक चिरस्थायी होती है"—यह उपदेश सारे संसार को देनेवाले मारजित्, लोकजित् भगवान् बुद्ध का जन्म विजया-दशमी के शुभ मुहूर्त्त में ही हुआ था। विजयादशमी के दिन बुद्ध भगवान् का जन्म हुआ और वैशाखी पूर्णिमा के दिन उन्हें शान्तिदायी चार आर्य तत्त्वों और अष्टांगिक मार्ग का बोध हुआ, यह बात हम भूल ही गये हैं। विष्णु का वर्तमान अवतार बुद्ध अवतार ही है। इसलिए विजयादशमी का त्योहार भगवान् बुद्ध के मार-विजय को स्मरण करके ही हमें मानना चाहिए।

## अभ्यास के लिए

(१) विजयादशमी किस प्रकार चारों वर्णो का त्योहार है?

(२) विजयादशमी के त्योहार पर किस प्रकार अनेक सस्कारों और अनेक विश्वासो की तहे चढी हुई है?

(३) इस त्योहार के समय सुवर्ण बॉटने की प्रथा किस प्रकार पड़ी?

(४) लेखक के अनुसार विजयादशमी का त्योहार विशेष महत्त्व क्यो रखता है?

(५) दशहरे का त्योहार विभिन्न प्रान्त के लोग किस प्रकार मनाते है?

# ६—सूरदास

डाक्टर श्यामसुन्दरदास

डाक्टर श्याममुन्दरदास का जन्म सवत् १९३२ मे हुआ। बी० ए० पास करने के उपरान्त आप कुछ दिन सेण्ट्रल हिन्दू-कालेज मे अध्यापक रहे। फिर कुछ समय तक आपने नहर-विभाग तथा काश्मीर नरेश के प्राइवेट दफ्तर मे कार्य किया। तदनन्तर कालीचरण हाईस्कूल, लखनऊ के हेड-मास्टर नियुक्त हुए और फिर काशी विश्वविद्यालय मे दीर्घकाल तक हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर आसीन रहे। सवत् २००२ मे आपका स्वर्गवास हो गया।

इस युग के हिन्दी-मेवकों मे बाबूजी का स्थान बडा ही महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी के प्रचार, उद्धार तथा निर्माण मे जो-जो प्रयत्न आपने किये वे भुलाये नही जा सकते। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा तो आपकी कीर्ति का अमर स्तभ है। हिन्दी के दो बृहत् कोष 'हिन्दी-शब्दसागर' और 'वैज्ञानिक कोष' आप ही के सम्पादकत्व मे सभा द्वारा प्रकाशित हुए थे। उच्च कक्षाओ के लिए गहन विषयों पर आपने 'रूपक-रहस्य', 'भाषा-विज्ञान', 'भाषा-रहस्य', 'साहित्यालोचन', 'हिन्दी भाषा और साहित्य', 'गोस्वामी तुलसीदास' आदि उच्च कोटि के ग्रथो की रचना की। स्कूलों तथा कालेजो के लिए भी उपयुक्त पुस्तके सकलित कर आपने उत्कृष्ट पथ-प्रदर्शन किया। आपकी देख-रेख मे हिन्दी की खोज का भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ और आपने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का सम्पादन भी किया। आपकी इन सेवाओ के उपलक्ष्य मे काशी-विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने साहित्य-वाचस्पति की उपाधियाँ प्रदान की। भारत-सरकार ने भी रायबहादुर की उपाधि देकर आपको सम्मानित किया।

बाबूजी शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। आपकी सभी रचनाओ मे संस्कृत-

प्रधान तत्सम शब्दावली का बाहुल्य तथा उर्दू के शब्दो का बहिष्कार है। उर्दू-फारसी के शब्दो को अपनाने के विषय मे आपकी यही नीति रही कि उन शब्दो को हिन्दी का रूप देकर ही अपनाया जाय। आपकी बडी भारी विशेषता है कि आप क्लिष्ट से क्लिष्ट विषय को सरल बनाकर समझाने मे सफल होते है। इस प्रकार आपकी शैली एक सफल अध्यापक की शैली है, जो अपने कठिन विषय को हृदयगम कराने मे पटु है। ऐसा करने से कही-कही आपको बहुत कुछ दुहराना पड़ता है और अपने पिछले कथन की ओर ध्यान दिलाना पड़ता है। अत विद्यार्थियो के लिए आपकी शैली सुबोध तथा स्पष्ट रहती है। सस्कृत के तत्सम शब्दो को अपनाकर भी आपने समासान्त शब्दावली का प्रयोग बहुत कम किया है। इस प्रकार आपका शब्द-चयन, वाक्य-सगठन, विराम चिन्हो का प्रयोग सुनियमित तथा सुव्यवस्थित है। कही-कही आपकी शब्दावली मे प्रवाह की कमी जान पडती है और कुछ अनावश्यक भारीपन भी। किन्तु अधिकतर आपकी भाषा, आपकी गम्भीर विचारधारा का अनुसरण करती हुई सरल, स्पष्ट एव परिमार्जित है।

वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रधान, सूरसागर के रचयिता, हिन्दी के अमर कवि महात्मा सूरदास हुए जिनकी सरल वाणी से देश के असंख्य सूखे हृदय हरे हो उठे और भग्नाश जनता को जीने का नवीन उत्साह मिला। इनका जन्म-संवत् लगभग १५४० था। आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क के किनारे रुनकता नामक गाँव में इनकी जन्मभूमि थी। चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा भक्तमाल के साक्ष्य से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते हैं, यद्यपि कोई कोई इन्हें महाकवि चन्द बरदाई के वंशज भाट कहते हैं। इनके अंधे होने के सम्बन्ध में यह प्रवाद प्रचलित है कि वे जन्म से अंधे थे; पर एक बार जब वे कुएँ में गिर पड़े थे तब श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन

दिये थे और वे दृष्टि-सम्पन्न हो गये थे। परन्तु उन्होंने कृष्ण से यह कहकर अंधे बने रहने का वर माँग लिया कि जिन आँखों से भगवान् के दर्शन किये, उनसे अब किसी मनुष्य को न देखें। इस प्रवाद का आधार उनके दृष्ट-कूटों की एक टिप्पणी है। इसे असत्य न मानकर यदि एक प्रकार का रूपक मान लें तो कोई हानि नहीं। सूर वास्तव में जन्मांध नहीं थे; क्योंकि शृंगार तथा रंग-रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है, वैसा कोई जन्मांध नहीं कर सकता। जान पड़ता है, कुएँ में गिरने के उपरान्त उन्हें कृष्ण की कृपा से ज्ञानचक्षु मिले, पहले इस चक्षु से वे हीन थे। यही आशय उक्त कहानी से ग्रहण किया जा सकता है।

जब महात्मा वल्लभाचार्य से सूरदासजी की भेंट हुई थी तब तक वे वैरागी के वेश में रहा करते थे। तब से ये उनके शिष्य हो गये और उनकी आज्ञा से नित्य प्रति अपने उपास्य देव और सखा कृष्ण की स्तुति में नवीन भजन बनाने लगे। इनकी रचनाओं का बृहत् संग्रह 'सूरसागर' है, जिसमें एक ही प्रसंग पर अनेक पदों का संकलन मिलता है। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद उन अन्ध कवि के मुख से निस्सृत हुए, उनमें पुनरुक्ति चाहे भले ही हो, पर उनकी मर्मस्पर्शिता और हृदयहारिता में किसी को कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता।

'सूरसागर' के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है, पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं, उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते। परन्तु यह संख्या भी बहुत बड़ी है। इतनी ही कविता उसके रचयिता को सरस्वती का वरद महाकवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इस ग्रन्थ में कृष्ण की बाललीला से लेकर उनके गोकुल-

त्याग और गोपिकाओं के विरह तक की कथा फुटकर पदों में कही गई है। ये पद मुक्तक के रूप में होते हुए भी एक भाव को पूर्णता तक पहुँचा देते हैं। सभी पद गेय हैं, अतः सूरसागर को हम गीत-काव्य कह सकते हैं। गीत-काव्य में जिस प्रकार छोटे छोटे रमणीय प्रसंगों को लेकर रचना की जाती है, प्रत्येक पद जिस प्रकार स्वतः पूर्ण तथा निरपेक्ष होता है, कवि के आंतरिक हृदयोद्गार होने के कारण उसमें जैसे कवि की अंतरात्मा झलकती देख पड़ती है, विवरणात्मक कथा-प्रसंगों का बहिष्कार कर तथा क्रोध आदि कठोर और कर्कश भावों का सन्निवेश न कर उसमें जैसे सरसता और मधुरता के साथ कोमलता रहती है, उसी प्रकार सूरसागर के गेय पदों में उपर्युक्त सभी बातें पाई जाती हैं। यद्यपि कृष्ण की पूरी जीवन-गाथा भी सूरसागर में मिलती है, पर उसमें कथा कहने की प्रवृत्ति बिलकुल नहीं देख पड़ती; केवल प्रेम, विरह आदि विभिन्न भावों की वेगपूर्ण व्यंजना उसमें बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है।

'सूरसागर' में कृष्णजन्म से कथा का आरम्भ हुआ है। यशोदा के गृह में पहुँचकर कृष्ण धीरे-धीरे बड़े होने लगे। उस काल की उनकी बाल-लीलाओं का जितना विशद वर्णन सूरदास ने किया, उतना हिन्दी के अन्य किसी कवि ने नहीं किया। कृष्ण अभी कुछ ही महीनों के हैं, माँ का दूध पीते हैं, माँ यह अभिलाषा करती है कि बालक कब बड़ा होगा, कब इसके दो नन्हें नन्हें दाँत जमेंगे, कब वह माँ कहकर पुकारेगा, कब घुटनों के बल घर भर में रेंगता फिरेगा आदि आदि। माँ बालक को दूध पिलाती है, न पीने पर उसे चोटी बढ़ने का लालच दिखाती है। उसे आकाश के चंद्रमा के लिए रोते देख, थाल में पानी भरकर चाँद को बालक के

लिए भूमि पर ला देती है। कितना वात्सल्य स्नेह, कितना सूक्ष्म निरीक्षण और कितना वास्तविक वर्णन है। इस प्रकार के असंख्य सूक्ष्म भावों से युक्त अनेक रसपूर्ण पद कहे गये हैं। कृष्ण कुछ बड़े होते हैं। मणि-खंभों में अपना प्रतिबिंब देखकर प्रसन्न होते और मचलते हैं। घर की देहली नहीं लाँघ पाते। सब कुछ सत्य है और आनंदप्रद है। कृष्ण और बड़े होते हैं, वे घर से बाहर जाते, गोप-सखाओं के साथ खेलते-कूदते और बाल्य चापल्य प्रदर्शित करते हैं। उनके माखन-चोरी आदि प्रसंगों में गोपिकाओं के प्रेम की व्यंजना भरी पड़ी है। गोपियाँ बाहर से यशोदा के पास उपालंभ आदि लाती हैं, पर हृदय से वे कृष्ण की लीलाओं पर मुग्ध हैं। प्रेम का यह अंकुर बड़ी ही शुद्ध परिस्थिति में देख पड़ता है। कृष्ण की यह किशोरावस्था है, कलुष या वासना का नाम भी नहीं है। शुद्ध स्नेह है। आगे चलकर कृष्ण सारे ब्रजमंडल में सबके स्नेहभाजन बन जाते हैं। उनका गोचारण उन्हें मनुष्यों के परिमित क्षेत्र से ऊपर उठाकर पशुओं के जगत् तक पहुँचा देता है। वंशीवट और यमुना-कुंजों की रमणीक स्थली में कृष्ण की जो सुन्दर मूर्ति गोप-गोपिकाओं के साथ मुरली बजाते और स्नेहलीला करते अंकित की गई है, वैसी सुषमा का चित्रण करने का सौभाग्य संभवतः संसार के किसी अन्य कवि को नहीं मिला। ब्रजमंडल की यह महिमा अपार है। कृष्ण का ब्रजनिवास स्वर्ग को भी ईर्षालु करने की क्षमता रखता है।

गोपिकाओं का स्नेह बढ़ता है। वे कृष्ण के साथ रासलीला में सम्मिलित होती हैं, अनेक उत्सव मनाती हैं। प्रेममयी गोपिकाओं का यह आचरण बड़ा ही रमणीय है। उसमें कहीं से अस्वाभाविकता नहीं आ सकी। कोई कृष्ण की

मुरली चुराती, कोई उन्हें अबीर लगाती और कोई चोली पहनाती है। कृष्ण भी किसी की वेणी गूँथते, किसी की आँखें मूँद लेते और किसी को कदम के तले बंसी बजाकर सुनाते हैं। एक आध बार उन्हें लज्जित करने की इच्छा से चीरहरण भी करते हैं। गोपी-कृष्ण की यह संयोग-लीला भक्तों का सर्वस्व है।

संयोग के उपरांत वियोग होता है। कृष्ण वृंदावन छोड़कर मथुरा चले जाते हैं। वहाँ राजकार्यों में संलग्न हो जाने के कारण प्यारी गोपियों को भूल से जाते हैं। गोपिकाएँ विरह में व्याकुल नित्य-प्रति उनके आने की प्रतीक्षा में दिन काटती हैं। कृष्ण नहीं आते। गोपियों के भाग्य का यह व्यंग्य उन्हें कुछ देर के लिए विचलित कर देता है। पर ऊधो के ज्ञानोपदेश वे स्वीकार नहीं करतीं। कृष्ण की साकार अनंत सौंदर्यशालिनी मूर्ति उनके हृदय-पटल पर अमिट अंकित है। कृष्ण चाहे जहाँ रहें, वे उन्हें भूल नहीं सकतीं। यह अनन्त प्रेम का दिव्य संदेश भक्तों के हृदय का दृढ़ अवलंब है।

इसी कथानक के बीच कृष्ण के लोक-रक्षक स्वरूप की व्यंजना करते हुए उनमें असीम शक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। थोड़ी आयु में ही वे पूतना जैसी महाकाय राक्षसी का वध कर डालते हैं। आगे चलकर केशी, बकासुर आदि दैत्यों के वध और कालिय-दमन आदि प्रसंगों को लाकर कृष्ण के बल और वीरता का प्रदर्शन किया गया है। परन्तु हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि सूरदास ने ऐसे वर्णनों की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया है। सूरदास के कृष्ण महाभारत के कृष्ण की भाँति नीतिज्ञ और पराक्रमी नहीं हैं; वे केवल प्रेम के प्रतीक और सौंदर्य की मूर्ति हैं।

कृष्ण के शील का भी थोड़ा-बहुत आभास सूर ने दिया है। माता यशोदा जब उन्हें दंड देती हैं; तब वे रोते-कलपते हुए उसे स्वीकृत करते हैं। इसी प्रकार जब गोचारण के समय उनके लिए छाछ आती है, तब वे अकेले ही नहीं खाते, सब को बाँटकर खाते हैं और कभी किसी का जूठा लेकर भी खा लेते हैं। बड़े भाई बलदेव के प्रति भी उनका सम्मान्य भाव बराबर बना रहा है। यह सब होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि सूरदास में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की ही प्रधानता है, रामचरितमानस की भाँति उसमें लोकादर्शों की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

सूरदास ने फुटकर पदों में रामकथा भी कही है; पर वह वैसी ही बन पड़ी है, जैसे तुलसी की कृष्ण-गीतावली। इसके अतिरिक्त उनके कुछ दृष्टि-कूट और कूट पद भी हैं जिनकी क्लिष्टता का परिहार विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। काव्य की दृष्टि से कूटों की गणना निम्न श्रेणी में होगी। सूरदास की कीर्ति को अमर कर देने और हिन्दी-कविता में उन्हें उच्चासन प्रदान करने के लिए उनका बृहदाकार ग्रंथ सूरसागर ही पर्याप्त है। सूरसागर हिंदी की अपने ढंग की अनुपम पुस्तक है। शृंगार और वात्सल्य का जैसा सरस और निर्मल स्रोत इसमें बहा है, वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों तक सूर की पहुँच है, साथ ही जीवन का सरल, अकृत्रिम प्रवाह भी उनकी रचनाओं में दर्शनीय है। यह ठीक है कि लोक के सम्बन्ध में गंम्भीर व्याख्याएँ सूरदास ने अधिक नहीं कीं; पर मनुष्य-जीवन में कोमलता, सरलता और सरसता भी उतनी ही प्रयोजनीय है, जितनी गंभीरता। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए तो सूरदास का उद्योग और भी स्तुत्य है। परन्तु उनकी कृति तत्कालीन स्थिति से सम्बन्ध रखती हुई भी, सार्व-

कालीन और चिरंतन है। उनकी उत्कट कृष्णभक्ति ने उनकी सारी रचनाओं में जो रमणीयता भर दी है, वह अतुलनीय है। उनमें नवोन्मेषशालिनी अद्भुत प्रतिभा है। उनकी पवित्र वाणी में जो अनूठी उक्तियाँ आपसे आप आकर मिल गई हैं, अन्य कवि उनकी जूठन से ही संतोष कर सकते हैं।

सूरदास हिन्दी के अन्यतम कवि हैं। उनके जोड़ का कवि गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर दूसरा नहीं है। इन दोनों महाकवियों में कौन बड़ा है, यह निश्चयपूर्वक कह सकना सरल काम नहीं। भाषा पर अवश्य तुलसीदास का अधिकर अधिक व्यापक था। सूरदास ने अधिकतर ब्रज की चलती भाषा का ही प्रयोग किया है। तुलसी ने ब्रज और अवधी दोनों का प्रयोग किया है और संस्कृत का पुट देकर उनको पूर्ण साहित्यिक भाषा बना दिया है। परन्तु भाषा को हम काव्य-समीक्षा में अधिक महत्त्व नहीं देते। हमें भावों की तीव्रता और व्यापकता पर विचार करना होगा। तुलसी ने रामचरित का आश्रय लेकर जीवन की अनेक परिस्थितियों तक अपनी पहुँच दिखलाई है। सूरदास के कृष्णचरित में उतनी व्यापकता नहीं। इस दृष्टि से तुलसी सूर से ऊँचे ठहरते हैं, परन्तु दोनों की वाणी में पूत भावनाएँ एक सी हैं। मधुरता सूर में तुलसी से अधिक है। जीवन के अपेक्षाकृत संकीर्ण क्षेत्र को लेकर उसमें अपनी प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार दिखा देने में सूर की सफलता अद्वितीय है। सूक्ष्मदर्शिता में भी सूर अपना जोड़ नहीं रखते। तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा विस्तृत है। लोक-कल्याण की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ अधिक शक्तिशालिनी और महत्त्वपूर्ण हैं, पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है।

## अभ्यास के लिए

(१) सूरदास के जीवन पर प्रकाश डालिए।
(२) सूरसागर कैसा काव्य है?
(३) सूरदास ने कृष्ण-चरित्र के किस पक्ष पर अधिक ध्यान दिया है?
(४) भाषा, भावों की तीव्रता तथा व्यापकता के आधार पर सूरदास तथा तुलसीदास की तुलना कीजिए।
(५) निम्नलिखित की विशद व्याख्या कीजिए—
गीतकाव्य, रामलीला, दृष्टकूट, नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा।

---

# १०—सच्चा धर्म

श्री गोविन्ददास सेठ

सेठजी का जन्म जबलपुर के सुप्रसिद्ध राजा गोकुलदासजी सेठ के घराने में हुआ है। देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में आपने सराहनीय त्याग किया है और साहित्य-सेवा में तो आप निरन्तर लगे ही रहते हैं। आप एक सुलेखक, वक्ता, कथाकार एवं नाटककार हैं।

आपने अनेक एकाकी नाटक भी लिखे हैं। चरित्र की महत्ता एवं आदर्श की रक्षा आपकी रचनाओं की प्रमुख विशेषता है। आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी रह चुके हैं और भारतीय पार्लियामेण्ट के एक अत्यन्त सम्मानित सदस्य हैं। हिन्दी को राष्टभाषा स्वीकार कराने

के लिए आपने भगीरथ प्रयत्न किया था। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने आपको साहित्य-वाचस्पति की उपाधि से विभूषित किया है।

## पात्र

पुरुषोत्तम—दिल्ली-निवासी एक महाराष्ट्र ब्राह्मण
अहिल्या—पुरुषोत्तम की पत्नी
सभाजी—शिवाजी का पुत्र
दिलावरखाँ—औरंगजेब की खुफिया जमात का एक सरदार
रहमान बेग—दिलावरखाँ का मातहत

## पहला दृश्य

स्थान—दिल्ली में पुरुषोत्तम के मकान का एक कमरा
समय—मध्याह्न के निकट

[कमरा एक छोटे से मकान के एक छोटे से कमरे सदृश दिखाई देता है। कमरे में पुरुषोत्तम बेचैनी से इधर-उधर टहल रहा है। पुरुषोत्तम की अवस्था लगभग साठ वर्ष की है। वह गेहुएं रंग और साधारण शरीर का मनुष्य है। सिर के बाल मराठी ढंग के है, अर्थात् पीछे चोटी शिखा है उसके चारों ओर छोटे-छोटे बाल और उसके चारों तरफ के बाल मुडे हुए। मुख पर बड़ी-बड़ी मूछे है। सारे बाल तीन चौथाई से अधिक सफेद है। वह लाल रंग का रेशमी उपरना ओढे हुए है। उसी रंग का रेशमी सोला पहने है। उसके सिर पर श्वेत चदन का त्रिपुण्ड्र लगा हुआ है और वक्ष-स्थल पर मोटा यज्ञोपवीत दिखाई देता है। अहिल्या का प्रवेश। अहिल्या करीब ५५ वर्ष की अवस्था की गेहुएं रंग और स्थूल शरीर की स्त्री है। बाल बहुत से सफेद हो गये है। वह मराठे ढंग की लाल चारखाने की साड़ी और वैसी ही चोली पहने हुए है। कुछ सोने के आभूषण भी पहने है।]

**अहिल्या—अभी भी ... अभी भी वह हाल है, कोई निर्णय नहीं हो सका?**

पुरुषोत्तम—(खड़े होकर) अहिल्या, प्रश्न कोई साधारण प्रश्न है !

अहिल्या—(बैठकर) कम से कम तुम सदृश सत्यवादी व्यक्ति के लिए तो ऐसे प्रश्नों में असाधारणता नहीं होनी चाहिए। जब मनुष्य सत्य का आश्रय छोड़ मिथ्या का आसरा लेता है, तभी तरह-तरह के प्रश्न उठ खड़े होते हैं।

पुरुषोत्तम—(बैठकर आश्चर्य से) सत्य का आश्रय छोड़ मिथ्या का आसरा ! मैं सत्य का आश्रय छोड़ मिथ्या का आसरा ले रहा हूँ ?

अहिल्या—और क्या कर रहे हो ? संभाजी को शिवाजी तुम्हारे पास रख गये हैं, यह क्या सच नहीं है ? जो लड़का तुम्हारे पास रहता है वह तुम्हारा भानजा है, यह कहना सच बोलना है ?

पुरुषोत्तम—संभाजी को संभाजी न कहकर अपना भानजा कहना, शिवाजी मेरे पास संभाजी को नहीं रख गये हैं, यह कहना, साधारण सच बोलने से कहीं बड़ा सत्य है।

अहिल्या—तुम्हारी सत्य-प्रियता अधिकांश दिल्ली में प्रसिद्ध है, इसी के कारण यवन तक तुम्हारा आदर करते हैं।

पुरुषोत्तम—अहिल्या, हमारे शास्त्रों में सत्य और असत्य की व्याख्या बड़ी बारीकी से की गई है। अनेक बार सत्य के स्थान पर मिथ्या भाषण सत्य से भी बड़ी वस्तु होता है। जीवन में धर्म से बड़ी कोई चीज नहीं। धर्म की रक्षा यदि असत्य से होती है, तो असत्य सत्य से बड़ा हो जाता है।

अहिल्या—धर्म की रक्षा ! अब तो तुमने और बड़ी बात कह दी। संभाजी को अपना भानजा बनाने से तुम धर्म की रक्षा कर सकोगे ? दिलावर खाँ कह गया है कि वह उसे तुम्हारा भानजा तब मानेगा, जब तुम उसके साथ बैठकर एक

थाली में भोजन करोगे। ब्राह्मण होकर अब्राह्मण के साथ भोजन करने से धर्म-रक्षा हो सकेगी ?

पुरुषोत्तम—(उठकर फिर टहलते हुए) अहिल्या, यही···· यही प्रश्न मुझे व्यथित किये हुए है। जीवन भर मैंने जिस प्रकार धर्म का पालन किया है, उसे तुमसे अधिक और कोई नहीं जानता, नहीं नहीं भगवान् तुमसे भी अधिक जानते हैं। (फिर बैठकर) मैंने त्रिकाल-संध्या, तर्पण, हवन इत्यादि सारे ब्राह्मण-कर्म नियम-पूर्वक किये हैं; शौच-अशौच का सदा पूर्ण विवेक रखा है। भक्ष्याभक्ष्य की ओर अधिक ध्यान दिया है; ब्राह्मण को छोड़कर किसी के हाथ का छुआ जल तक ग्रहण नहीं किया, वही वही मैं इस चौथेपन में अब्राह्मण के साथ बैठकर, एक ही थाली में, कैसे खाऊँगा, यह प्रश्न मुझे व्यथित· अत्यधिक व्यथित किये हुए है। (फिर टहलते हुए) भगवान् इस चौथेपन में क्या मेरी परीक्षा लेना चाहते हैं ? एक अब्राह्मण के साथ भोजन करा मुझे भ्रष्ट करना चाहते हैं ?

अहिल्या—यदि तुमने अब्राह्मण के साथ भोजन किया तो तुम्हीं..... तुम्हीं भ्रष्ट न होगे, सारा कुटुम्ब भ्रष्ट हो जायगा। दो-दो कन्याएँ विवाह योग्य हो गई हैं, किसी ब्राह्मण-कुटुम्ब में उनका विवाह न हो सकेगा। पुत्र का विवाह हो चुका है, तो क्या हुआ ? उसकी संतान तक भ्रष्ट हो जायगी, उसका न यज्ञोपवीत होगा और न ब्राह्मणों में विवाह-संस्कार।

रुषोत्तम—(अहिल्या के निकट बैठकर, उसकी ओर देखते हुए) तब· क्या करूँ ?

अहिल्या—मैंने तो कहा, जन्म भर जिसके आश्रय में रहे हो, उस सत्य को न छोड़ो। औरंगजेब के सदृश बादशाह के राज्य में, उसकी राजधानी में रहते हुए हिन्दू और ब्राह्मण होते हुए भी, तुम यह सफल जीवन उसी सत्य के आश्रय के

कारण बिता सके हो, इस चौथेपन में वह आसरा छोड़ने से बुरी और कोई बात नहीं हो सकती, विशेषकर तब जब उस आसरे का सुफल तुम देख चुके हो। धर्म की टेढ़ी-मेढ़ी व्याख्याओं में पड़कर अपना जीवन भर का सीधा मार्ग छोड़ अपने और अपने कुटुम्ब को नष्ट मत करो।

पुरुषोत्तम—तो मैं यह कह दूं कि यह लड़का शिवाजी का पुत्र संभाजी है, मेरा भानजा नहीं। मिठाई की टोकरी में छिपकर दिल्ली से भागते समय शिवाजी उसे मेरे पास छोड़ गये हैं।

अहिल्या—कम से कम तुम्हें सत्य बात के कहने में सोच-विचार करना ही न चाहिए।

पुरुषोत्तम—और इसका परिणाम क्या होगा ?

अहिल्या—परिणाम जो कुछ हो ! तुम सदा कहते नहीं रहे हो कि सत्य बोलने के सम्मुख परिणाम की ओर मनुष्य को दृष्टि ही नहीं डालनी चाहिए।

[पुरुषोत्तम सिर नीचा कर विचारमग्न हो जाता है, कुछ देर निःस्तब्धता]

पुरुषोत्तम—(एकाएक सिर उठाकर) नहीं नहीं..... ....... नहीं, नहीं . ...यह कभी नहीं हो सकता, यह कभी नहीं हो सकता। यह.......यह विश्वासघात होगा;......ऐसा...... ऐसा पातक, जिससे बड़ा पातक सम्भव ही नहीं। यह...... यह शरणागत का बलिदान होगा, ऐसा...ऐसा दुष्कर्म जिससे बड़ा दुष्कर्म हो नहीं सकता।

अहिल्या—पर दूसरी ओर तुम सत्य को तिलांजलि दे रहे हो......अब्राह्मण के साथ भोजन कर धर्म-भ्रष्ट होने का

प्रश्न तुम्हारे सम्मुख है और स्वयं के भ्रष्ट होने का ही नहीं, पर सारे कुटुम्ब के नष्ट हो जाने का......

**पुरुषोत्तम**—(उठकर टहलते हुए) ओह ! ओह...ओह !

लघु यवनिका

## दूसरा दृश्य

स्थान—दिल्ली की एक गली

समय—मध्यान्ह के निकट

[तंग गली के कुछ मकान दिखाई पड़ते हैं। दिलावरखाँ और रहमानबेग खड़े हैं। दोनों अधेड़ अवस्था और गहुए रंग के ऊँचे पूरे व्यक्ति हैं। दिलावरखाँ के दाढ़ी भी है। दोनों उस समय की सैनिक वर्दी पहने हुए हैं।]

**दिलावरखाँ**—(विचारते हुए) पंडित पुरुषोत्तमराव झूठ बोलेंगे, ऐसा......ऐसा यकीन तो नहीं होता।

**रहमानबेग**—जनाब, तमाम देहली में कौन ऐसा होगा, जो उन्हें जानता हो और यह मानता हो कि वे कभी भी झूठ बोल सकते हैं।

**दिलावरखाँ**—(उसी प्रकार विचारते हुए) लेकिन, रहमानबेग यह लड़का दक्खनी बिरेहमन दिखलाता नहीं।

**रहमानबेग**—सिर्फ सूरत से यह कह सकना कि कौन बिरेहमन है और कौन नहीं, यह तो एक बड़ी मुश्किल बात है।

[कुछ देर निस्तब्धता दिलावरखाँ गम्भीरता से सोचता रहता है और रहमानबेग उसकी तरफ देखता है।]

**रहमानबेग**—(कुछ देर बाद) फिर आपने तो पंडित की बात पर ही यकीन करके मामले को नहीं छोड़ दिया, आपने तो

उसे बहुत बड़ा सुबूत देने के लिए कहा है ! पुरुषोत्तमराव की बात ही काफी है, फिर अगर वह उस लड़के के साथ बैठकर खाना खा लेता है, तब तो शक की गुंजाइश ही नहीं रह जाती ।

दिलावरखाँ—(सिर उठाकर) हाँ, कोई बिरेहमन किसी नीच कौम के साथ बैठकर थोड़े ही खा सकता है ।

रहमानबेग—और दक्खनी बिरेहमन मराठा के साथ, चाहे जान निकल जाय तो भी न खायगा ।

दिलावरखाँ—पुरुषोत्तम के मानिंद बिरेहमन तो कभी नहीं ।

रहमानबेग—कभी नहीं, कभी नहीं ।

दिलावरखाँ—(ऊपर की तरफ देखकर) तो दोपहर तो हो ही रहा है । पूजा-पाठ के बाद उसने दोपहर को ही खाने के वक्त बुलाया था ।

रहमानबेग—हाँ, वक्त हो रहा है, चलिए, चलिए ।

(दोनों का प्रस्थान)

लघु यवनिका

## तीसरा दृश्य

स्थान—पुरुषोत्तम के मकान का एक कमरा

समय—मध्यान्ह

[पुरुषोत्तम और अहिल्या बैठे हैं । अहिल्या का मुख प्रसन्नता से खिल सा गया है । पुरुषोत्तम के मुख पर वैसी ही उद्विग्नता दृष्टिगोचर होती है ।]

अहिल्या—(ऊपर की ओर देखकर) धन्यवाद ·· ··· अगणित बार धन्यवाद है भगवान् को, कि अन्त में सत्य की

उसने विजय करा दी। (पुरुषोत्तम की ओर देख) दिन भर का भूला-भटका यदि रात को घर लौट आवे तो वह भूला नहीं कहलाता। उद्वेग के कारण तुमने एक बार मिथ्या अवश्य बोल दिया, पर देर···बहुत देर नहीं हुई, अभी भी समय था। दिलावरखाँ के आने के पहले तक समय था। अब उससे सारी बातें सच-सच कह देने पर मिथ्या भाषण के पाप से तुम मुक्त हो जाओगे। जन्म भर जिस सत्य का आश्रय रखा है, उसी की शरण में रहने से कोई आपत्ति भी नहीं आयेगी।

[पुरुषोत्तम कोई उत्तर नहीं देता। अहिल्या उसकी ओर देखती रहती है। कुछ देर निःस्तब्धता।]

**अहिल्या**—(कुछ देर बाद, पुरुषोत्तम की ओर देखते हुए) देखा······देखा नहीं, एक ···केवल एक बार सत्य का आसरा छोड़ते ही कैसी···कैसी महान् आपत्ति आई। एक मिथ्या को सत्य सिद्ध करने के प्रयत्न में कितनी मिथ्या बातें कहनी पड़ती हैं। तुम सदृश सत्यवादी से अपने कथन की पुष्टि के लिए प्रमाण माँगा गया, ऐसा वैसा प्रमाण नहीं, भयंकर प्रमाण, महा-भयंकर प्रमाण! तुम्हारा मराठा के साथ, अब्राह्मण के साथ, एक थाल में भोजन करना! ओह! यह...यह कभी संभव था?

[पुरुषोत्तम फिर कुछ नहीं बोलता। पर दृष्टि उठा अहिल्या की ओर देखने लगता है। अहिल्या चुपचाप उसकी ओर देखती है। कुछ देर निःस्तब्धता।]

**अहिल्या**—(कुछ देर बाद) जन्म भर का सारा पूजन-अर्चन समाप्त हो जाता! जीवन भर के सारे नियम-व्रत भंग हो जाते!

[पुरुषोत्तम कुछ नहीं बोलता, पर चुपचाप उठकर टहलने लगता

है। अहिल्या कुछ देर तक बैठे बैठे उसकी तरफ देखती रहती है और फिर उठकर उसी के साथ टहलने लगती है।]

**अहिल्या**—(टहलते-टहलते) और··· ·और फिर यह सब किसी अपने के लिए नहीं, दूसरे · दूसरे के लिए।

[पुरुषोत्तम चुपचाप खड़े होकर अहिल्या की ओर देखने लगता है। अहिल्या भी खड़ी हो जाती है।]

**अहिल्या**—हाँ, क्या ·· क्या प्रयोजन है हमें शिवाजी से और उसके पुत्र संभाजी से? दूसरे के लिए हम क्यों अपना इहलोक और परलोक बिगाड़ें, स्वयं नष्ट हों और अपने कुल को नष्ट करें? (कुछ रुककर) सोचो,······जरा सोचो तो, कहीं औरंगजेब को पता लग जाय तो औरंगजेब के सदृश बादशाह क्या करें, तुम्हारा और हमारा सारे कुटुम्ब का?

[पुरुषोत्तम फिर भी कुछ न कह टहलने लगता है। अहिल्या भी उसके साथ टहलती है। कुछ देर निःस्तब्धता।]

**अहिल्या**—(कुछ देर बाद) ठीक···ठीक समय पर भगवान् ने तुम्हें सुबुद्धि दी। सारा हाल सच सच कह देने से अच्छा निर्णय हो नहीं सकता था। परलोक बचा, क्योंकि मराठा के साथ खाने से जो धर्म जाता, वह धर्म बच गया। इहलोक बचा, क्योंकि राज्य-भय नहीं रह जायगा। इतना ·····इतना ही नहीं, संभाजी को पाते ही ···· तुम्हारे जरिये पाते ही औरंगजेब कितना · ···कितना खुश होगा तुम पर! · ··· कदाचित् ·· कदाचित् तुम मनसबदार हो जाओ; तुम न भी हुए ·· अर्थात् तुमने यदि मनसबदारी अस्वीकृत भी कर दी, तो · तो मनसबदार हो सकता है हमारा लड़का।··· · उसी सत्य की शरण के कारण, जिसका जीवन···· हाँ, जीवन भर तुमने आश्रय रखा है।

[नेपथ्य मे 'पडितजी !' शब्द होता है।]

**अहिल्या**—(जल्दी से) **लो, लो, कदाचित् दिलावरखाँ आ गया। अब···अब सब बातचीत स्पष्ट रूप में कर लो उससे···** (शीघ्रता से प्रस्थान।)

**पुरुषोत्तम**—(जिसके मुख का रग ही दिलावरखॉ की आवाज सुन और ही हो गया है, गला साफ करते हुए खिडकी के पास जा, मुख बाहर निकाल, नीचे देखते हुए।) **अहाहा ! दिलावरखाँ साहब ! आइए, आ जाइए।**

[दिलावरखाँ और रहमानबेग का प्रवेश]

**पुरुषोत्तम—आइए, आइए, मैं पूजा से उठ आप ही लोगों का रास्ता देख रहा था। बैठिए, बैठिए।**

**दिलावरखाँ**—(बिछावन पर बैठते हुए) **आप भी तो बैठिए पंडितजी।**

[दिलावरखॉ और रहमानबेग बिछावन पर बैठ जाते हैं।]

**पुरुषोत्तम—पूजा के पश्चात् भोजन तक मैं किसी वस्त्र आदि का स्पर्श नहीं करता। पहले आपको झंझट से मुक्त कर दूँ।**

**दिलावरखाँ**—(कुछ सहमते हुए) **आपके मुआफिक मुअज्जिज शख्स के लिए जो सुबूत मैंने माँगा उसकी कोई जरूरत तो नहीं है, आपकी बात ही सबूत होनी चाहिए, लेकिन······लेकिन आप जानते हैं कि ये सारे सियासी मामलात····**

**पुरुषोत्तम—नहीं, नहीं, आप कोई संकोच न कीजिए। अपने कर्त्तव्य का पालन करना धर्म ही है। मैं···मैं भी आपको पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर दूँगा।** (जिस दरवाजे से अहिल्या गई है उसी से जाता है।)

**रहमानबेग—जनाब, अब भी शक की कोई गुञ्जाइश बाकी है ?**

**दिलावरखाँ—वह खाय तो उस लौंडे के साथ पहले मेरे सामने।**

**रहमानबेग—पर खाने के बाद ?**

**दिलावरखाँ—हाँ, खाने के बाद तो शक की कोई गुञ्जाइश ही नहीं रहनी चाहिए।**

[दिलावरखाँ और रहमान उत्कठा से जिस दरवाजे से पुरुषोत्तम गया है, उस दरवाजे की ओर देखते है। पुरुषोत्तम का एक हाथ मे परसी हुई थाली और दूसरे हाथ मे कलश लिये हुए प्रवेश। थाली मे भात, दाल, शाक इत्यादि परसे हुए है। पुरुषोत्तम की सारी उद्विग्नता नष्ट हो, उसका मुख प्रसन्नता से चमक रहा है। उसके पीछे-पीछे सभाजी आता है। पुरुषोत्तम बिना बिछावन की भूमि पर थाली रखता है, उसी के निकट जल का कलश। थाली के दोनों ओर पुरुषोत्तम और सभाजी बैठ जाते है। पुरुषोत्तम भोजन का थोडा-थोडा अश निकाल जमीन पर रख थाली के चारो ओर जल छिडकता है।]

**पुरुषोत्तम—**(जल छिडकते हुए) **'सत्यम्वरितेन परिषिञ्चासि'** (अब आचमन करते हुए) **'अमृतोपस्तरणमसि'।**

[अब पुरुषोत्तम और सभाजी दोनो थाली मे से खाना आरम्भ करते है।]

**पुरुषोत्तम—**(खाते खाते) **कहिए, खाँ साहब, अब···अब भी आपको विश्वास हुआ या नहीं कि विनायक मेरा भानजा है ?**

[दिलावरखाँ का मुख शर्म से झुक जाता है। रहमानबेग कभी दिलावरखाँ की तरफ देखता है और कभी पुरुषोत्तम की ओर।]

यवनिका

## अभ्यास के लिए

(१) पुरुषोत्तम का चरित्र-चित्रण कीजिए।

(२) 'अहिल्या' के चरित्र पर प्रकाश डालिए।

(३) अहिल्या पुरुषोत्तम को किस कारण अपनी विचारधारा से प्रभावित कर रही थी ?

(४) इस नाटक के शीर्षक की सार्थकता पर अपने विचार प्रकट कीजिए और इसका एक नया शीर्षक अपनी ओर से दीजिए।

---

# ११—गोस्वामी तुलसीदास

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

अलोचकप्रवर प० रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सवत् १९४१ मे बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम मे हुआ था। सस्कृत का ज्ञान आपने बाल्य-काल मे ही प्राप्त किया। एफ० ए० तक आपने कालेज मे शिक्षा पाई और मिर्जापुर मिशन स्कूल मे अध्यापक हुए। सवत् १९६५ मे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित—हिन्दी-शब्द-सागर के सहकारी सम्पादको मे आपकी नियुक्ति हुई। इस कार्य को आपने बडी योग्यता से किया। अनेक वर्षों तक आपने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का सम्पादन भी किया। आप अनेक वर्षो तक हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी के हिन्दी-विभाग मे अध्यापक रहे और अपने अन्तिम वर्षो मे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद को भी प्रतिष्ठित किया।

आपकी प्रकृति प्रारम्भ ही से चिन्तनशील रही है। आप अपने समय के सर्वमान्य उद्भट विद्वान्, श्रेष्ठ समालोचक, उत्कृष्ट निबन्धकार

तथा कवि थे। किन्तु आपका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य निबन्ध एव आलोचना-सम्बन्धी है। सूर, तुलसी तथा जायसी पर आपकी समीक्षाएँ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है और रहेगी। सच पूछिए तो हिन्दी मे वैज्ञानिक काव्य-समीक्षा का सूत्रपात आप ही ने किया और आप ही के द्वारा आधुनिक समीक्षा-भवन का शिलान्यास भी हुआ। आपका 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' आज भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। आपके निबन्ध-सग्रहो मे 'चिन्तामणि' सर्वोपरि है। 'चिन्ता-मणि' पर आपको मगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हुआ था। इनके अतिरिक्त आपने बहुत सी और पुस्तके लिखी तथा सम्पादित की है जिनमे 'लाइट ऑफ एशिया' के आधार पर अनूदित 'बुद्ध-चरित' नामक काव्य-ग्रथ और आलोचना-सम्बन्धी 'काव्य मे रहस्यवाद' विशेष महत्त्वपूर्ण है। आपका निधन सवत् १९९८ मे हुआ।

आपका समस्त साहित्य आपकी मननशील प्रवृत्ति से प्रभावित है। भाषा मे आप सदैव शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती रहे और परिणामस्वरूप आपकी भाषा प्राय सदैव ही तत्सम सस्कृत शब्दावली ही से अलकृत है। उर्दू के शब्दो का प्रयोग आपने बहुत ही कम किया है और यह भी प्राय व्यग अथवा शिष्ट हास के लिए। आपने कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक गम्भीर बात कहने का प्रयास किया है जिससे वाक्य कही-कही बडे बोझीले हो गये है और कही-कही उनमे सूत्रो की सी गुरुता एव महत्ता भी आ गई है। आपकी भाषा प्रौढ, परिमार्जित एव विचारधारा के अनुरूप आकर्षक और प्रभावोत्पादक है।

आपकी वाक्य-रचना इतनी सुव्यवस्थित तथा विराम चिह्नों का प्रयोग ऐसा सुनियमित है कि आपका समस्त गद्य-साहित्य हिन्दी-साहित्य मे एक अपूर्व स्थान तथा महत्त्व का अधिकारी है। प्रत्येक स्थान पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने आपकी शैली को नव-शक्ति प्रदान की है और इस प्रकार आपकी शैली 'शैली ही व्यक्ति है' का स्पष्ट उदाहरण है।

कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। राम-कथा के भीतर ये स्थल अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं—राम का अयोध्या-त्याग और पथिक के रूप में वनगमन; चित्रकूट में राम और भरत का मिलन; शबरी का आतिथ्य; लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप और भरत की परीक्षा। इन स्थलों को गोस्वामीजा ने अच्छी तरह पहचाना है, क्योंकि इनका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है। एक सुन्दर राजकुमार के छोटे भाई और स्त्री को लेकर घर से निकलने और वन वन फिरने से अधिक और मर्मस्पर्शी दृश्य क्या हो सकता है। इस दृश्य का गोस्वामीजी ने मानस, कवितावली और गीतावली तीनों में अत्यन्त सहृदयता के साथ वर्णन किया है। गीतावली में तो इस प्रसंग के सबसे अधिक पद हैं। ऐसा दृश्य स्त्रियों के हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करनेवाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्याग को सबसे अधिक उभारनेवाला होता है, यह बात समझकर मार्ग में उन्होंने ग्राम-वधुओं का सन्निवेश किया है। ये स्त्रियाँ राम-जानकी के अनुपम-सौन्दर्य्य पर स्नेह-शिथिल हो जाती हैं, उनका वृत्तान्त सुनकर राजा की निष्ठुरता पर पछताती हैं, कैकेयी की कुचाल पर भला-बुरा कहती हैं। सौन्दर्य्य के साक्षात्कार से थोडी देर के लिए उनकी वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं। वे अपने को भूल जाती हैं।

राम-जानकी के अयोध्या से निकलने का दृश्य वर्णन करने में गोस्वामीजी ने कुछ उठा नहीं रखा। सुशीलता के आगार रामचन्द्र प्रसन्नमुख निकलकर दास-दासियों को गुरु के सुपुर्द कर रहे हैं; सबसे वही करने की प्रार्थना करते हैं, जिससे राजा का दुःख कम हो। उनकी सर्वभूतव्यापिनी सुशीलता

ऐसी है कि उनके वियोग में पशु-पक्षी भी विकल हैं। भरतजी जब लौटकर अयोध्या आये, तब उन्हें सर-सरिताएँ भी श्रीहत दिखाई पड़ीं, नगर भी भयानक लगा। भरत को यदि रामगमन का संवाद मिल गया होता, तो हम इसे भरत के हृदय की छाया कहते। पर घर में जाने के पहले उन्हें कुछ भी वृत्तान्त ज्ञात नहीं था। इससे हम सर-सरिता के श्रीहत होने का अर्थ उनकी निर्जनता, उनका सन्नाटापन लेंगे। लोग राम-वियोग में विकल पड़े हैं। सर-सरिता में जाकर स्नान करने का उत्साह उन्हें कहाँ? पर यह अर्थ हमारे आपके लिए है। गोस्वामीजी ऐसे भावुक महात्मा के निकट तो राम के वियोग में अयोध्या की भूमि ही विषाद-मग्न हो रही है; आठ आठ आँसू रो रही है।

चित्रकूट में राम और भरत का जो मिलन हुआ है, वह शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है। इस मिलन से संघटित उत्कर्ष की दिव्य प्रभा देखने योग्य है। यह झाँकी अपूर्व है। "भायप भगति" से भरे भरत नंगे पाँव राम को मनाने जा रहे हैं। मार्ग में जहाँ सुनते हैं कि यहाँ पर राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उस स्थल को देख आँखों में आँसू भर लेते हैं।

मार्ग में लोगों से पूछते जाते हैं कि राम किस वन में हैं। जो कहता है कि हम उन्हें सकुशल देखे आते हैं, वह उन्हें राम-लक्ष्मण के समान ही प्यारा लगता है। प्रिय सम्बन्धी आनन्द के अनुभव की आशा देनेवाला एक प्रकार से उस आनन्द का जगानेवाला है—'उद्दीपन' है। सब माताओं से पहले राम कैकेयी से मिले। क्यों? क्या उसे चिढ़ाने के लिए? कदापि नहीं। कैकेयी से प्रेमपूर्वक मिलने की सबसे अधिक आवश्यकता थी। अपना महत्त्व या सहिष्णुता दिखाने के लिए

नहीं, उसके परितोष के लिए। अपनी करनी पर कैकेयी को जो ग्लानि थी, वह राम ही के दूर किये हो सकती थी, और किसी के किये नहीं।

कैकेयी को ग्लानि थी या नहीं, इस प्रकार के सन्देह का स्थान गोस्वामीजी ने नहीं रखा। कैकेयी की कठोरता आकस्मिक थी, स्वभावगत नहीं। स्वभावगत भी होती तो राम की सरलता और सुशीलता उसे कोमल करने में समर्थ थी।

जिस समाज के शील-संदर्भ की मनोहारिणी छटा को देख, वन के कोल-किरात मुग्ध होकर सात्विक वृत्ति में लीन हो गये, उसका प्रभाव उसी समाज में रहनेवाली कैकेयी पर कैसे न पड़ता?

उस पुण्य समाज के प्रभाव से चित्रकूट की रमणीयता में पवित्रता भी मिल गई। उस समाज के भीतर नीति, स्नेह, शील, विनय, त्याग आदि के संघर्ष से जो धर्मज्योति फूटी, उससे आस-पास का सारा प्रदेश जगमगा उठा। उसकी मधुर स्मृति से आज भी वहाँ की वनस्थली परम पवित्र है। चित्रकूट की उस सभा की कार्यवाही क्या थी, धर्म के एक एक अंग की पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी। रामचरित-मानस में वह सभा एक आध्यात्मिक घटना है। धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना, हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एक साथ उद्भावना, तुलसी के ही विशाल 'मानस' में संभव थी। यह संभावना उस समाज के भीतर बहुत से भिन्न भिन्न वर्गों के समावेश द्वारा संघटित की गई है। राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र, पिता और पुत्री, श्वशुर और जामातृ, सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण और शूद्र, सभ्य और असभ्य के परस्पर व्यवहारों का, उपस्थित प्रसंग के धर्मगाम्भीर्य्य के कारण, अत्यन्त मनोहर

रूप प्रस्फुटित हुआ। धर्म के उस स्वरूप को देख सब मोहित हो गये—क्या नागरिक, क्या ग्रामीण और क्या जंगली। भारतीय शिष्टता और सभ्यता का चित्र यदि देखना हो, तो इस राज-समाज में देखिए। कैसी परिष्कृत भाषा में, कैसी प्रवचन-पटुता के साथ प्रस्ताव उपस्थित होते हैं, किस गंभीरता और शिष्टता के साथ बात का उत्तर दिया जाता है, छोटे बड़े की मर्यादा का किस सरसता के साथ पालन होता है। सबकी इच्छा है कि राम अयोध्या को लौटें; पर उनके स्थान पर भरत वन को जायँ, यह इच्छा भरत को छोड़ शायद ही और किसी के मन में हो। अपनी प्रबल इच्छाओं को लिए हुए लोग सभा में बैठते हैं; पर वहाँ बैठते ही धर्म के स्थिर और गंभीर स्वरूप के सामने उनकी व्यक्तिगत इच्छाओं का कहीं पता नहीं रह जाता। राजा के सत्यपालन से जो गौरव राजा और प्रजा दोनों को प्राप्त होता दिखाई दे रहा है, उसे खंडित देखना वे नहीं चाहते। जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि धर्मतत्त्व के पारदर्शी जो कुछ निश्चय कर दें, उसे वे कलेजे पर पत्थर रख कर मानने को तैयार हो जाते हैं।

× × × ×

कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित मानस से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है? जीवन-स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं? इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता। जो केवल दाम्पत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सके या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर

सकें वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते । पूर्ण भावुक वे ही हैं, जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द-शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वाङ्गपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामीजी में ही है, जिसके प्रभाव से रामचरित-मानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है। वात्सल्य भाव का अनुभव करके पाठक तुरन्त बालक राम-लक्ष्मण के प्रवास का उत्साहपूर्ण जीवन देखते हैं, जिसके भीतर आत्मावलंबन का विकास होता है। फिर आचार्य-विषयक रति का स्वरूप देखते हुए वे जनकपुर में जाकर सीताराम के परम पवित्र दाम्पत्य भाव के दर्शन करते हैं। इसके उपरान्त अयोध्या-त्याग के करुण दृश्य के भीतर भाग्य की अस्थिरता का कटु स्वरूप सामने आता है। तदनन्तर पथिक वेशधारी राम-जानकी के साथ साथ चलकर पाठक ग्रामीण स्त्री-पुरुषों के उस विशुद्ध सात्त्विक प्रेम का अनुभव करते हैं, जिसे हम दाम्पत्य, वात्सल्य आदि कोई विशेषण नहीं दे सकते, पर जो मनुष्य मात्र में स्वाभाविक है।

रमणीय वन-पर्वत के बीच एक सुकुमारी राजवधू को साथ लिये दो वीर आत्मावलंबी राजकुमारों को विपत्ति के दिनों को सुख के दिनों में परिवर्तन करते पाकर वे "वीरभोग्या वसुन्धरा" की सत्यता हृदयंगम करते हैं। सीताहरण पर विप्रलंभ-शृंगार का माधुर्य्य देखकर पाठक फिर लंका-दहन के अद्भुत, भयानक और वीभत्स दृश्य का निरीक्षण करते हुए राम-रावण-युद्ध के रौद्र और युद्ध-वीर (रस) तक पहुँचते हैं। शान्तरस का पुट तो बीच बीच में बराबर मिलता ही है। हास्यरस का पूर्ण समावेश रामचरितमानस के भीतर न करके नारद-मोह के प्रसंग में उन्होंने किया है। इस प्रकार काव्य के

गूढ़ और उच्च उद्देश्य को समझनेवाले, मानवजीवन के सुख और दुःख दोनों पक्षों के नाना रूपों के मर्मस्पर्शी चित्रण को देखकर गोस्वामीजी के महत्त्व पर मुग्ध होते हैं; और स्थूल बहिरंग दृष्टि रखनेवाले भी लक्षण-ग्रन्थों में गिनाये हुए नवरसों और अलंकारों पर अपना आह्लाद प्रकट करते हैं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि गोस्वामीजी मनुष्य-जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियों को जो सन्निवेश कर सके, वह रामचरित की विशेषता के कारण। इतने अधिक प्रकार की मानव-दशाओं का सन्निवेश आपसे आप हो गया। ठीक है, पर उन सब दशाओं का यथातथ्य चित्रण बिना हृदय की विशालता, भावप्रसार की शक्ति, मर्मस्पर्शी स्वरूपों की उद्भावना और शब्दशक्ति की सिद्धि के नहीं हो सकता। मानव-प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामीजी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतना अधिक हिन्दी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं। यदि कहीं सौंदर्य्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्षपुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखंड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनन्दोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्त्व है तो दीनता तुलसीदासजी के हृदय में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान है।

× × × ×

कवि की दिव्यवाणी का मंजु घोष घर घर क्या, एक एक हिन्दू के हृदय तक पहुँच गया कि भगवान् दूर नहीं हैं, तुम्हारे जीवन में मिले हुए हैं। यही वाणी हिंदू जाति को नया जीवनदान दे सकती थी। उस समय यह कहना कि ईश्वर सब से दूर है, निर्गुण है, निरंजन है, साधारण जनता को और भी नैराश्य के गड्ढे में ढकेलता। ईश्वर बिना पैर के चल

सकता है, बिना हाथ के मार सकता है और सहारा दे सकता है, इतना और जोड़ने से भी मनुष्य की वासना को पूरा आधार नहीं मिल सकता। जब भगवान् मनुष्य के पैरों से दीन-दुखियों की पुकार पर दौड़कर आते दिखाई दें और उनका हाथ मनुष्य के हाथ के रूप में दुष्टों का दमन करता और पीड़ितों को सहारा देता दिखाई दे, उनकी आँखें मनुष्य की आँखें होकर आँसू गिराती दिखाई दें, तभी मनुष्य के भावों की पूर्ण तृप्ति हो सकती है, और लोक-धर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है, इस भावना का—अँगरेजी नाम-करण हो जाने पर भी, सभ्यता के आधुनिक इतिहासों में विशेष स्थान स्थिर हो जाने पर भी—हिंदू-हृदय से बहिष्कार नहीं हो सकता। जहाँ हमें दिन-दिन बढ़ता हुआ अत्याचार दिखाई पड़ा कि हम उस समय की प्रतीक्षा करने लगेंगे जब वह "रावणत्व" की सीमा पर पहुँचेगा और "रामत्व" का आविर्भाव होगा। तुलसी के मानस से रामचरित की जो शील-शक्ति-सौंदर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँच कर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिंब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवन-व्यापकता ने तुलसी की वाणी को राजा, रंक, धनी, दरिद्र, मूर्ख, पंडित सबके हृदय और कंठ में सब दिन के लिए बसा दिया। किसी श्रेणी का हिंदू हो, वह अपने प्रत्येक जीवन में राम को साथ पाता है—संपत्ति में, विपत्ति में, घर में, वन में, रणक्षेत्र में, आनंदोत्सव में, जहाँ देखिए वहाँ राम। गोस्वामीजी ने उत्तरापथ के समस्त हिंदू-जीवन को राम-मय कर दिया। गोस्वामीजी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिंदू-जनता अवसर के अनुसार सौंदर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त

होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य धारण करती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती है, बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलंबन करती है और मानव-जीवन के महत्त्व का अनुभव करती है।

## अभ्यास के लिए

(१) कवि की भावुकता का क्या अर्थ है? श्रेष्ठ कविता मे उक्त भावुकता का होना क्यो आवश्यक है?

(२) कवितावली तथा गीतावली के विषय मे आप क्या जानते है?

(३) तुलसीदासजी की कवित्व-शक्ति पर एक छोटा सा निबन्ध लिखिए।

(४) तुलसीदास ने मानव-जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियो का सन्निवेश किस प्रकार किया है?

(५) पडित रामचन्द्र शुक्ल की शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

(६) गोस्वामीजी की वाणी ने हिन्दू जाति को नया जीवन किस प्रकार दिया?

(७) निम्नलिखित शब्दो की व्याख्या कीजिए—
आख्यान, मर्मस्पर्शी स्थल, रागात्मक-सामजस्य, विप्रलम्भ, शृ गार, उद्दीपन।

---

# १२—रेडियम

श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव

श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव एम० एस्-सी० ने वैज्ञानिक विषयों पर सरल भाषा मे बड़ी सफलतापूर्वक लिखा है। आप किशोरीरमण कालेज, मथुरा मे भौतिक-विज्ञान के प्रोफेसर है। आपके लेखो ने हिन्दी के वैज्ञानिक क्षेत्र मे एक बडे अभाव की पूर्ति की है। विज्ञान के गहन विषयो को सरल किन्तु रोचक शब्दावली मे प्रकट करने की आपमे अद्भुत क्षमता है। 'विज्ञान के चमत्कार' इनके वैज्ञानिक लेखों का सुन्दर सग्रह है।

यह निबन्ध उनकी इसी पुस्तक से लिया गया है।

रेडियम धातु का पता लगानेवाली सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक महिला मैडम क्यूरी हैं।

रेडियम आधुनिक विज्ञान के लिए अपूर्व देन सिद्ध हुआ है। रेडियम के अणुओं में हमेशा विद्युत्-कणों की एक तीव्र बौछार निकला करती है। संसार की कोई शक्ति इस क्रिया में दखल नहीं दे सकती—निरन्तर अबाध रूप से रेडियम के अणुओं से ये विद्युत्-कण निकलते ही रहते हैं और इस क्रिया के फलस्वरूप रेडियम के अणु अन्य पदार्थों के अणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं। किन्तु नियत समय में रेडियम के अणु एक नियत मात्रा में ही परिवर्तिन होते हैं, अतः परिवर्तित अणुओं की मात्रा देखकर यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि कितने काल में यह परिवर्त्तन हुआ होगा। इस रीति से पृथ्वी के गर्भ में बन्द रेडियम के परिवर्तित कणों की जाँच करके पृथ्वी की आयु का पता लगाया गया है। वैज्ञानिकों ने पृथ्वी की आयु दो अरब वर्ष निर्धारित की है।

भौतिक विज्ञान की अनेक गुत्थियों को भी रेडियम ने सुलझाया है। एक्स-रे और रेडियम की ईजाद के पहले वैज्ञानिकों का खयाल था कि संसार की सभी चीजें लगभग ६० मूल पदार्थों के संयोग से बनी हैं—और ये मूल पदार्थ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। प्रत्येक मूल पदार्थ छोटे अणुओं से बना होता है। एक ही पदार्थ के तमाम अणु एक-से होते हैं। किन्तु वे अन्य पदार्थों के अणुओं से भिन्न होते हैं। प्रत्येक मूल पदार्थ के अणुओं की अपनी निज की विशेषताएँ होती हैं। ये अणु किसी भी तरीके से छिन्न-भिन्न नहीं किये जा सकते और न एक पदार्थ के अणु दूसरे पदार्थ के अणुओं में परिवर्तित ही किये जा सकते हैं।

१६ वी शताब्दी के आखिर तक वैज्ञानिकों का यही विश्वास था। किन्तु जब उन्होंने रेडियम का अध्ययन किया तब उन्होंने आश्चर्यचकित होकर देखा कि रेडियम के अणु कालान्तर में छिन्न-भिन्न होकर मामूली सीसे के कणों में निरन्तर नियम-पूर्वक परिवर्तित होते हैं। निसन्देह यह जानकारी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। विज्ञान को पहली बार एक मूल पदार्थ का दूसरे मूल पदार्थ में परिवर्तित होने का दृष्टान्त मिला। पारस पत्थर का स्वप्न मानो सच होने को आया। क्योंकि यदि रेडियम के अणु सीसे के अणुओं में परिवर्तित हो सकते हैं तो बहुत सम्भव है कि अनुकूल परिस्थितियों में लोहे के टुकड़े स्वर्ण में परिवर्तित किये जा सकें।

वैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में बड़े मनोयोगपूर्वक अनुसन्धान करना आरम्भ किया और शीघ्र ही प्रयोगशाला के अन्दर उन्होंने मूल पदार्थों के अणुओं को एक दूसरे में परिवर्तित करने में कामयाबी भी हासिल कर ली। किन्तु अणुओं को छिन्न-भिन्न करने के लिए विद्युत्-कणों की तीव्र बौछार की जरूरत होती है

और तीव्र गति के विद्युत्-कणों के परिचालन में काफी धन व्यय करना होता है। इसी कारण व्यवसाय के दृष्टिकोण से ये प्रयोग अभी पूर्ण रूप से सफल हुए नहीं कहे जा सकते। वैज्ञानिकों का खयाल है कि शीघ्र ही वे कम खर्च में अणु-परिवर्तन का प्रयोग पूरा कर सकेंगे और तब शायद सोना, चाँदी, प्लेटिनम सरीखी महँगी धातुओं के दाम भी आज की अपेक्षा बहुत नीचे गिर जायँगे। लोहे, ताँबे और अल्यूमिनियम की भाँति सोना-चाँदी भी अमीर-गरीब सबको लभ्य हो सकेगा।

रेडियम ने चिकित्सा-शास्त्र में अपने लिए विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया है। कैन्सर (नासूर) ऐसे भयानक चर्म-रोगों के लिए चिकित्सा-शास्त्र में कोई प्रभावशाली औषध ही न थी। रेडियम ने इस भारी कमी की पूर्ति की, किन्तु इस अमूल्य औषध के लिए वैज्ञानिकों और डाक्टरों को महँगे दाम चुकाने पड़े। रेडियम का जिन दिनों पहली बार पता चला, अनेक उत्साही व्यक्तियों ने उसके गुणों का पता लगाने के लिए प्रयोग करना शुरू किया। उन बेचारों को क्या पता था कि रेडियम से विद्युत्-कणों की जो बौछार बाहर की ओर नित्य निकला करती है, वह उनके शरीर की त्वचा पर घातक असर पैदा करेगी। नतीजा यह हुआ कि किसी की उँगली का मांस गल गया, तो किसी के चेहरे का रंग बिगड़ गया और कोई रेडियम-किरणों के आघात से रोगी बनकर इस दुनिया से कूच कर गया।

इन बलिदानों के बाद डाक्टरों ने रेडियम-किरणों की शक्ति को ठीक ठीक पहचाना। नपी तुली मात्रा में नासूर के ऊपर थोड़े समय तक कई सप्ताह तक रेडियम-किरणों को डालने से नासूर अच्छा हो जाता है। रेडियम चिकित्सा में सावधानी की जरूरत बहुत ज्यादा हुआ करती है। रोगी का

शरीर कितनी तेज रेडियम-किरणें सह सकता है, इस बात की जानकारी पहले डाक्टर हासिल कर लेता है; क्योंकि उचित मात्रा से अधिक तेज किरणें नासूर के घाव को और भी गहरा बना देती हैं।

रेडियम बहुत महँगी धातु है। एक माशा रेडियम का दाम साढ़े तीन लाख रुपया सन् १६२६ तक था। फिर १६२८ में रेडियम का दाम कुछ नीचे गिरा, क्योंकि कनाडा, बेलजियम कांगो और कोलोरेडो में रेडियम की खानों के अस्तित्व का पता लगा। रेडियम का भाव प्रति माशा दो लाख रुपये पर अब तक टिका हुआ है। प्राकृतिक अवस्था में रेडियम मिट्टी, बालू आदि के साथ मिला हुआ पाया जाता है। एक माशा रेडियम के लिए चार हजार टन रेडियम मिली हुई मिट्टी के साथ वैज्ञानिकों को माथापच्ची करनी होती है।

रेडियम के ही समान चिकित्सा के गुण रखनेवाली एक धातु मेसोथीरियम होती है जो प्रति माशा ६००० रुपये के भाव से बिकती है। रेडियम की अपेक्षा सस्ता होने के कारण यूरोप के अस्पतालों में प्रायः मेसोथोरियम ही कैन्सर के इलाज के लिए इस्तेमाल होता है। प्रयोगशालाओं में जाँच करने से मालूम हुआ है कि ५॥ हजार टन भारतीय बालू में से एक माशा मेसोथोरियम प्राप्त किया जा सकता है।

प्राकृतिक रेडियम की महँगी के कारण अनेक वैज्ञानिकों ने कृत्रिम रेडियम तैयार करने का भी प्रयत्न किया है। लेनिनग्रेड रेडियम इन्स्टिट्यूट के प्रोफेसर मिस्टोवस्की ने १६३५ में एक नया यन्त्र कृत्रिम रेडियम तैयार करने के लिए बनाया। इस यन्त्र में संसार का सबसे बड़ा चुम्बक लोहा लगा हुआ है। दो करोड़ वोल्ट की बिजली से यह यन्त्र सञ्चालित होता है। इस प्रयोगशाला के अन्दर की हवा भी पूर्णतया विद्युन्मय होती

है। यदि प्रयोग के समय आप इस कमरे में जायँ तो आपके सिर के बाल विद्युन्मय हवा के प्रभाव से खड़े हो जायँगे। 'न्यूट्रान' कणों की एक पेनी किरण मोम में घुली हुई हाइड्रोजन गैस पर आघात करती है और इस आघात के कारण हाइड्रोजन के अणुओं में से विद्युत्-कण ठीक रेडियम-किरणों की तरह फूट-फूटकर निकलते हैं। इन विद्युत्-कणों के रास्ते में नमक रख देते हैं। ये कण नमक के अणुओं में चिपक-से जाते हैं। कमरे के बाहर निकलने पर इन नमक के टुकड़ों से ठीक रेडियम की तरह विद्युत-कणों की बौछार बाहर को निकलती है।

इस प्रयोगशाला में काम करनेवाले वैज्ञानिक एक छोटी-सी कोठरी में बैठकर प्रयोग में काम आनेवाले यन्त्रों का सञ्चालन करते हैं। इस सीसे की कोठरी में मोटे स्फटिक काँच की खिड़की लगी हुई है। इसी खिड़की के रास्ते से ये अपने यन्त्रों का निरीक्षण करते हैं। इस तरह रेडियम-किरणों के घातक प्रभाव से ये लोग अपनी रक्षा कर सकते हैं।

इँगलैण्ड के एक अस्पताल में कुल १५ माशा रेडियम मौजूद है। अन्य किसी देश के अस्पलात में इतना अधिक रेडियम नहीं है। यूरोप के साधारण कोटि के अस्पतालों में एक या दो माशा रेडियम रखा रहता है। एक माशे के सौवें या हजारवें भाग रेडियम को भी प्राइवेट प्रैक्टिस करनेवाले डाक्टर इस्तेमाल करते हैं। छोटे-छोटे ट्यूब में अन्य पदार्थों के साथ मिलाकर रेडियम के इन नन्हें जर्रों को रखते हैं।

स्वर्ण की अपेक्षा २४,००० गुनी महँगी धातु रेडियम की खबरदारी भी बड़ी होशियारी के साथ करनी होती है। रेडियम के टुकड़ों के खो जाने में आर्थिक हानि तो है ही,

साथ ही आसपास के लोगों की जान का भी खतरा है, क्योंकि यदि किसी की आस्तीन में रेडियम का टुकड़ा फँसा रह गया या उसके कोट के दामन में वह अटक गया, तो उसके शरीर पर निरन्तर रेडियम-किरणों की बौछार पड़ेगी और उस पर अपना घातक असर कर दिखायेगी। खोये हुए रेडियम को ढूँढ़ निकालने के लिए कई प्रकार के विद्युत्-यन्त्र बनाये गए हैं। रेडियम से निकलनेवाले विद्युत्-कणों के सम्पर्क में आते ही इस विद्युत्-यन्त्र में हरकत पैदा होती है और फौरन मालूम हो जाता है कि आसपास में ही रेडियम अवश्य छिपा हुआ है।

न्यूयार्क के अस्पताल में एक रेडियम का टुकड़ा, जो चाँदी की नली में रखा हुआ था, खो गया। कूड़े के साथ चाँदी की नली कूड़ा जलानेवाली भट्टी में चली गई। वहाँ और कूड़े करकट के साथ वह भी जला दी गई। जब रेडियम की खोज शुरू हुई तो कूड़ेखाने से राख बाल्टियों में उठाकर इस यन्त्र के पास लाई जाने लगी। जब तेईसवीं बालटी पास लाई गई तो इस विद्युत्-यन्त्र में फौरन ही हरकत हुई—बस रेडियम का टुकड़ा तेईसवीं बालटी की राख में से निकाल लिया गया। चाँदी की नली पिघल चुकी थी।

एक और अस्पताल में एक बार रेडियम खो गया। कूड़ेखाने में विद्युत्-यन्त्र की मदद से रेडियम की तलाश की गई, किन्तु वहाँ पर भी नहीं मिला। लेकिन विद्युत्-यन्त्र में रह-रहकर हरकत होती थी। पास में बहुत से सूअर घूम रहे थे और जब वे उस यन्त्र के नजदीक आ जाते तभी यन्त्र की पत्ती में हरकत होती। बस डाक्टर ने फौरन उन २०० सूअर को दस-दस की टोली में बाँट दिया और प्रत्येक टोली की जाँच की। इस लम्बी जाँच के उपरान्त इस सूअर को पकड़ा,

जो कूड़े के साथ रेडियम की नली खा गया था। फौरन उस सूअर का पेट फाड़कर उसकी आँतों में से रेडियम की नली निकाल ली गई।

रेडियम निस्सन्देह मानव-समाज के लिए एक अपूर्व देन साबित हुआ है। अणु-परमाणुओं की दुनिया के रहस्योद्घाटन के लिए भी रेडियम ने अद्भुत साधन अपने विद्युत्-कणों के रूप में हमें दिया है। रेडियम में निहित शक्ति को अपने वश में लाने की बात भी वैज्ञानिक सोच रहे हैं। जिस दिन उनका यह स्वप्न सही उतर आयेगा, अवश्य ही मनुष्य के हाथ में अपरिमित शक्ति का भाण्डार आ जाएगा।

## अभ्यास के लिए

(१) रेडियम की खोज किसने की? उसके विषय में आप क्या जानते हैं?

(२) विज्ञान-जगत् में रेडियम का क्या महत्त्व है?

(३) चिकित्सा-शास्त्र में रेडियम से किस प्रकार लाभ हुआ?

(४) रेडियम के प्रयोग में विशेष सावधानी की क्यों आवश्यकता है?

(५) भविष्य में रेडियम से मनुष्य की क्या-क्या आशाएँ हैं?

# १३—साहित्य की महत्ता

आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म रायबरेली प्रान्त के दौलतपुर ग्राम मे सवत् १९२१ वि० मे हुआ था। प्रारम्भ में आप जी० आई० पी० रेलवे मे हेडक्लर्क थे, किन्तु मातृभाषा हिन्दी की सेवा के हित आपने इस नौकरी को छोड 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का संपादन भार स्वीकार किया। सवत् १९६० से १९७९ वि० तक आपने इस कार्य को बडी योग्यतापूर्वक निबाहा। इस बीस वर्ष के दीर्घ सपादन-काल मे आपने हिन्दी साहित्य की अमूल्य सेवाएँ की है—एक ओर तो आपने नये हिन्दी-लेखको के व्याकरण-शिक्षक बनकर हिन्दी भाषा और गद्य-शैली का रूप स्थिर किया और आलोचना-शास्त्र की नीव डाली; दूसरी ओर खडी बोली मे कविता करने का पथ-प्रदर्शन कर अनेक कविरत्नों की सृष्टि की। वर्तमान हिन्दी के निर्माण का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पश्चात् आप ही को है। द्विवेदीजी ही आधुनिक युग के आचार्य तथा पथप्रदर्शक है।

आपकी सत्तरवी वर्षगाँठ के शुभ अवसर पर नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी ने 'द्विवेदी-अभिनन्दन' नामक बृहद् ग्रथ समर्पण कर तथा प्रयाग के साहित्यिको ने द्विवेदी मेला की नीव डालकर आचार्यजी के प्रति अगाध सम्मान एवं कृतज्ञता का परिचय दिया।

द्विवेदीजी सस्कृत, फारसी, उर्दू, अँगरेजी आदि भाषाओ के पंडित, उत्कृष्ट समालोचक एव कवि थे। आपने 'रघुवश', 'हिन्दी महाभारत', 'कुमार-सम्भव', 'किरातार्जुनीय' आदि सस्कृत-ग्रथो का तथा 'बेकन-विचार-माला', 'शिक्षा', 'स्वाधीनता' आदि अँगरेजी ग्रन्थों का सुन्दर अनुवाद किया। आपके स्वतन्त्र ग्रथों में—'अद्भुत आलाप', 'रसज्ञरजन', 'साहित्यसीकर', 'विचित्र-चित्रण', 'निबन्ध-सग्रह' तथा 'कालिदास की निरंकुशता',

'संपत्तिशास्त्र, हिन्दीभाषा की उत्पत्ति' आदि विशेष प्रसिद्ध है। आपकी गद्यशैली व्याकरणसम्मत, परिमार्जित और विषयानुकूल परिवर्तनशील है।

ओज और सुवोधता उसकी प्रधान विशेषता है। भावप्रकाशन के भेद से आपकी शैली कही व्यंग्यात्मक, कही विचारात्मक और कही गवेषणात्मक हो गई है। आपका शब्द-भाण्डार बडा विस्तृत है जिसमे संस्कृत के तत्सम, तद्भव, देशज आदि शब्द सम्मिलित है। व्यंग्य के लिए उर्दू के प्रचलित शब्दो का भी आप प्रयोग करते है। सरल और सामान्य विषयों पर लिखते समय आप व्यावहारिक बोलचाल के शब्द, मुहावरे तथा उर्दू के चलते शब्द बिना संकोच के प्रयोग करते थे। चिन्तनशील एवं आलोचनात्मक लेखों मे आपकी भाषा गम्भीर, सुगठित तथा परिमार्जित हो जाती थी। ओज तथा सुबोधता आपकी शैली मे सर्वत्र विद्यमान है।

साहित्य का यह महारथी हिन्दी की अभूतपूर्व सेवा कर सं० १९९५ वि० को परलोकवासी हुआ।

**ज्ञानराशि के सञ्चित कोश ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह रूपवती भिखारिन की तरह, कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसम्पन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य ही पर अवलम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक सङ्गठन का, उसके ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है, तो उसके ग्रन्थ-साहित्य में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य ही है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी**

न्यूनता आपको देख पड़े, आप निःसन्देह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण सभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्यरूपी आइने ही में मिल सकती है। इस आइने के सामने जाते ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनशक्ति इस समय कितनी या कैसी है और भूतकाल में कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बन्द कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वञ्चित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अङ्ग का जो काम है, वह उससे यदि न लिया जाय, तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालान्तर में निर्जीव-सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए। पर याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है, उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्तिसम्पन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलम्बित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की

ही न चाहिए। नहीं, आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं, अनेक भाषाएँ सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए; द्वेष किसी भाषा से न करना चाहिए; ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परन्तु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीविक की भाषा सदैव लोक-भाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से, हमारा परम धर्म है।

## अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) साहित्य किसे कहते हैं? किसी भाषा के लिए साहित्य की इतनी क्यों आवश्यकता होती है?

(२) साहित्य और समाज का क्या सम्बन्ध है?

(३) साहित्य की शक्ति के उदाहरण दीजिए।

(४) पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की साहित्य-सेवा की चर्चा कीजिए और उनकी गद्यशैली पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

(५) अपने साहित्य का अध्ययन अन्य साहित्यों के अध्ययन की अपेक्षा क्यों आवश्यक है?

———

# १४—हीरा और कोयला

श्री राय कृष्णदास

हिंदी के यशस्वी कलाकार श्री राय कृष्णदास का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य घराने में हुआ है। आपके पिता भारतेन्दु बाबू के फुफेरे भाई थे। आपमे काव्य-प्रतिभा के लक्षण बाल्य-काल ही मे प्रकट होने लगे थे।

आप बँगला के विद्वान् है। रवीन्द्र बाबू की 'गीताञ्जलि' के ढग पर आपकी 'साधना' नामक पुस्तक सुप्रसिद्ध है। आपकी कहानियों पर भी बँगला कवियो का प्रभाव है। आपकी संगृहीत कला-कृतियाँ, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की स्थायी एव बहुमूल्य सम्पत्ति है।

आपमे भाव-प्रकाशन तथा अनुभूतियो को प्रदर्शित करने की अपूर्व क्षमता है। आपकी भाषा का प्रवाह सयत एव गम्भीर है। आपकी गद्य-शैली व्यावहारिक है। भाषा मे सस्कृत-तत्सम शब्दो का बाहुल्य होते हुए भी दुरूहता नही है। आपकी रचनाओ मे सगठन, आकर्षण तथा लालित्य है। आप अपनी कला द्वारा कल्पना और स्वर्गीय विभूति का दर्शन कराते है। आप साधारण-सी बात को आलकारिक ढग से ही कहते है। आपके गद्य-काव्य, कहानियो तथा अन्य रचनाओ मे कला की सर्वत्र प्रधानता है। आपने अनेक पुस्तके लिखी है जिनमे प्रवाल, छायापथ, साधना और सुधाशु मुख्य है।

**हीरा—मेरे पास तू कैसे ?**

**कोयला—क्यों ? तेरा मेरा तो जनम का साथ है ?**

**हीरा—"जनम का साथ" ! चल, हट, दूर हो यहाँ से।**

**कोयला—क्या तू मेरी बात झूठ मानता है ? अरे, हम सगे भाई हैं !**

ही न चाहिए। नहीं, आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं, अनेक भाषाएँ सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए; द्वेष किसी भाषा से न करना चाहिए; ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परन्तु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीतिक की भाषा सदैव लोक-भाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से, हमारा परम धर्म है।

## अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) साहित्य किसे कहते हैं? किसी भाषा के लिए साहित्य की इतनी क्यों आवश्यकता होती है?

(२) साहित्य और समाज का क्या सम्बन्ध है?

(३) साहित्य की शक्ति के उदाहरण दीजिए।

(४) पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की साहित्य-सेवा की चर्चा कीजिए और उनकी गद्यशैली पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

(५) अपने साहित्य का अध्ययन अन्य साहित्यों के अध्ययन की अपेक्षा क्यों आवश्यक है?

# १४—हीरा और कोयला

श्री राय कृष्णदास

हिंदी के यशस्वी कलाकार श्री राय कृष्णदास का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य घराने मे हुआ है। आपके पिता भारतेन्दु बाबू के फुफेरे भाई थे। आपमे काव्य-प्रतिभा के लक्षण बाल्य-काल ही मे प्रकट होने लगे थे।

आप बँगला के विद्वान् है। रवीन्द्र बाबू की 'गीताञ्जलि' के ढग पर आपकी 'साधना' नामक पुस्तक सुप्रसिद्ध है। आपकी कहानियो पर भी बँगला कवियो का प्रभाव है। आपकी सगृहीत कला-कृतियाँ, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की स्थायी एव बहुमूल्य सम्पत्ति है।

आपमें भाव-प्रकाशन तथा अनुभूतियो को प्रदर्शित करने की अपूर्व क्षमता है। आपकी भाषा का प्रवाह सयत एव गम्भीर है। आपकी गद्य-शैली व्यावहारिक है। भाषा मे सस्कृत-तत्सम शब्दो का बाहुल्य होते हुए भी दुरूहता नही है। आपकी रचनाओं मे सगठन, आकर्षण तथा लालित्य है। आप अपनी कला द्वारा कल्पना और स्वर्गीय विभूति का दर्शन कराते है। आप साधारण-सी बात को आलकारिक ढग से ही कहते है। आपके गद्य-काव्य, कहानियो तथा अन्य रचनाओ मे कला की सर्वत्र प्रधानता है। आपने अनेक पुस्तके लिखी है जिनमे प्रवाल, छायापथ, साधना और सुधाश मुख्य है।

**हीरा**—मेरे पास तू कैसे ?

**कोयला**—क्यों ? तेरा मेरा तो जनम का साथ है ?

**हीरा**—"जनम का साथ" ! चल, हट, दूर हो यहाँ से।

**कोयला**—क्या तू मेरी बात झूठ मानता है ? अरे, हम सगे भाई हैं !

हीरा—क्या कहना है, चोरी और सीना-जोरी। अभी तक जनम का साथी बनता था, अब भाई बनने लगा! मैं गोरा चिट्टा, तू काला-कलूटा। भला कौन कहेगा तू मेरा भाई है!

कोयला—अरे मैं तेरा सगा भाई ही नहीं, सगा बड़ा भाई हूँ। एक ही पेट से पहले मेरा जन्म होता है तब तेरा।

हीरा—तभी न हम दोनों एक-से हैं!

कोयला—यह तो ईश्वरी देन है। क्या देव और दानव भाई नहीं?

हीरा—सोलहों आने सच! लेकिन दानव तू ही हुआ, क्योंकि तू मेरा बड़ा बनता है।

कोयला—कौन दानव है और कौन देव, यह तो कर्म से विदित होगा। अपने मुँह से कहने की क्या आवश्यकता है। फिर, देवता के अनुयायी ही असुरों की इतनी निन्दा करते आये हैं। यदि देखा जाय तो बेचारे असुर सदा ही देवताओं से छले गये हैं।

हीरा—अच्छा, रहने दे अपने पास अपनी दार्शनिकता। आ, हम अपनी-अपनी करनी तो देख लें, कि तू मेरा बड़ा भाई होने योग्य है कि नहीं।

कोयला—बहुत ठीक, बहुत ठीक। तुझे ही अपनी बड़ाई का बड़ा घमण्ड है; तू ही अपने गुण कह चल।

हीरा—बनता तो है मेरा सहोदर, पर तुझे मेरे गुन तक विदित नहीं। न सही, पर क्या तेरी आँखें भी फूट गई हैं! पहले तो मेरा रूप ही देख। यदि मुझमें और गुण न भी हों तो इतना ही मेरी बड़ाई के लिए बहुत है—मैं जहाँ रहता हूँ, सूरज की तरह चमकता हूँ। रङ्ग-बिरङ्गी किरणें मुझमें से

निकला करती हैं। देखनेवालों की आँखें खुल जाती हैं, तबीअत हरी हो जाती है।

कोयला—क्या कहना है, तू तो एक कङ्कड़ जैसा खान के बाहर आता है; वह तो हीरा-तराश तुझे यह कृत्रिम रूप देता है। तेरा अपना प्रकाश कहाँ? तू तो समस्त वर्णों और प्रकाशों से शून्य है। तुझमें जैसी छाया और आभा पड़ी वैसा ही बन जाता है—गङ्गा गये, गङ्गादास; जमुना गये, जमुनादास। यदि तू कहीं अँधेरे में पड़ा रहे तो लोगों की ठोकरें—

हीरा—जरा ही में गर्म हो गया! पूरी बात तो सुन लेता। सुन, मैं राजेश्वरों के सिर पर बैठता हूँ। देवताओं का मुकुट सुशोभित करता हूँ। सुन्दरियों का आभूषण बनता हूँ—

कोयला—हाँ, तू अपने कारण सम्राटों के सिर कटाता है। बड़े-बड़े राज तहस-नहस कर डालता है। मनुष्य को इस धोखे में डालता है कि तुझे देवमुकुट में लगाकर वह देवता को अपने वश कर सकता है। तू सुन्दरियों की सहज रमणीयता पर भी अपनी कृत्रिमता से पानी फेरता है।

हीरा—मैं बड़े-बड़े राज-कोषों में कितनी रक्षा से रक्खा जाता हूँ। मेरे लिए पहरा-चौकी लगती है। तेरे जैसा गलियों में मारा-मारा नहीं फिरता। बड़ी-बड़ी निधियों से मेरा विनिमय होता है। मैं टके सेर नहीं बिकता।

कोयला—क्या खूब! नित्य बन्दी बनकर, सौ-सौ तालों में बन्द होकर, सोने की काँटेदार बेड़ियों में जकड़ा जाकर तू अपने को बड़ा समझे तो समझ। तेरी बुद्धि की बलिहारी है! मैं तो स्वतन्त्रतापूर्वक दर-दर घूमना ही जीवन की धन्यता समझता हूँ। और तेरा मूल्य, तुझे याद है कि बता दूँ।

तेरा सच्चा मोल पञ्जाब-केसरी रणजीतसिंह ने आंका था—पाँच जूतियाँ! सुना तूने ?

हीरा—रहने दे छोटे मुँह बड़ी बात। तू सदा जलनेवाला है। तू दूसरे का उत्कर्ष कब देख सकता है ?

कोयला—हाँ मैं जलता हूँ, किन्तु दूसरों के लिए—मैं अपने कारण दूसरों को तो नहीं जलाता। मैं जलकर गरीबों की जरूरतें पूरी करता हूँ—लोगों को विभूति देता हूँ।

हीरा—हाँ, मेरे ही विनिमय के लिए तू उन्हें धनिक करता है।

कोयला—क्योंकि मैं तो तुझे छोटा भाई समझकर तेरी प्रतिष्ठा ही चाहता हूँ। पर तू ठहरा वज्र। तुझे इसका ध्यान कहाँ ?

हीरा—रहने दे अपनी उदारता। मैं इन बातों में आकर अपना मार्ग नहीं छोड़ने का।

कोयला—मैं तुझे यही तो चिताना चाहता हूँ—तेरे दिन अब पूरे हो चले। संसार शीघ्र ही वह दिन देखनेवाला है जब तेरी पूछ न रह जायगी। वह शीघ्र ही कृत्रिम आभूषणों के बदले सच्चे आभूषण अपनावेगा। वह अमीरी-गरीबी का ऊबड़-खाबड़ और टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग छोड़-कर, एक सरल समतल सीधे मार्ग से चलनेवाला है।

हीरा—देखना है कि मनुष्यता कब सच्चे आभूषण अप-नाती है। देखना है कि लोकयात्रा का वह सीधा मार्ग कब बनता है। यदि वैसा सीधा मार्ग बन भी गया तो उसके सीधेपन के कारण उसकी लम्बाई देखकर ही मानवता हार बैठेगी ! जो हो—

कोयला—नहीं, वह सीधापन उसका उत्साह दूना कर देगा, क्योंकि यात्रा का निर्दिष्ट स्थान उसे सामने ही दीख पड़ने लगेगा।

हीरा—जब वह समय आवेगा तब देखा जायगा। मैं बीच ही में अपना पदत्याग क्यों करूँ? क्या सहज ही मैंने उसे पाया है? तब तक के लिए तुझे इस बिना माँगी सलाह के लिए हृदय से धन्यवाद।

कोयला—अच्छा मेरे अनुज! मैं जी से तुझे आशीर्वाद देता हूँ कि ईश्वर तुझे सुबुद्धि दे।

हीरा—आः! क्या दैवगति ऐसी ही है कि मैं तेरा अनुज होऊँ और तू कोयला—मेरा अग्रज!

कोयला—हाँ, यह एक घटना है जिसे हम मिटा नहीं सकते।

हीरा—तो क्या मनुष्य के पूर्वज बन्दर नहीं?

कोयला—यह तो तेरे जैसे पारदर्शी ही जानें, मैं अन्ध-हृदय इन गूढ़ विषयों को क्या समझ सकूँ!

हीरा—चाहे जैसा भी हो, तूने अपने हृदय का कालापन तो स्वीकार किया। तेरी इस हार के आगे मैं अपना सिर झुकाता हूँ।

कोयला—और मैं भी अपने उसी आन्तरिक अन्धकार से—जो आलोक का कारण है—तुझे फिर असीसता हूँ कि ईश्वर तुझे सुबुद्धि दे।

## अभ्यास के लिए

(१) हीरे और कोयले के वार्तालाप का सारांश अपनी भाषा में लिखिए।

(२) हीरे और कोयले में किसके तर्कों से आप अधिक प्रभावित हुए हैं ?

(३) इस संलाप से आपको क्या शिक्षा मिलती है ?

(४) इस पाठ के आधार पर राय कृष्णदास की शैली पर प्रकाश डालिए।

---

# १५—कवि-सम्मेलन

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

श्री बख्शीजी मध्य-प्रदेश के निवासी हैं, किन्तु आपने अधिकतर प्रयाग ही में रहकर साहित्य-सेवा की है। अनेक वर्ष आपने 'सरस्वती' का योग्यतापूर्वक संपादन किया। अँगरेजी भाषा के आप पंडित हैं। साहित्य-संबंधी आपका अध्ययन विस्तृत है। आलोचना के लिए आपकी भाषा बहुत ही उपयुक्त है। आपकी प्रसिद्ध पुस्तकें 'विश्व साहित्य', 'हिन्दी साहित्य-विमर्श', 'कुछ' तथा 'यात्री' आदि हैं।

इधर आपने छोटे-छोटे विषयों पर अपनी प्रतिभा का प्रकाश डालकर बड़े उत्कृष्ट निबंध लिखे हैं जिनमें बड़ी ही सजीवता है। शैली में आप अपने विषय को ही प्रधानता देते हैं, फिर भी भाषा का जैसा मोहक और चलता हुआ रूप आपके निबंधों में रहता है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है।

विज्ञों का कथन है कि पृथ्वी पर प्रतिदिन हजारों उल्कापात होते रहते हैं। ये उल्कापात भीषण होते हैं। पृथ्वी पर गिरकर मनुष्यों के कितने ही विशाल नगरों को वे पल भर में नष्ट कर

सकते हैं। जहाँ वे गिर जाते हैं वहाँ सर्वनाश अनिवार्य है। एक बार ३० जून, १६०८ की रात्रि में एक भयानक उल्कापात हुआ था। उसके कारण साइबीरिया में कई मीलों का एक गर्त बन गया, बड़ी दूर तक एक भूकम्प-सा हो गया। एक उल्कापात का तो यह फल हुआ, हजारों का क्या होगा ? पर प्रतिदिन इतने उल्कापातों के होते रहने पर भी हम लोग अपने दैनिक जीवन में निश्चिन्त होकर जो संलग्न रहते हैं, इसका कारण यह है कि ये उल्काएँ हमारे पास तक पहुँचते-पहुँचते स्वयं जलकर भस्म हो जाती हैं और उनका कोई भी अनिष्टकर प्रभाव हम पर नहीं पड़ता। इसी लिए उनके सम्बन्ध में हम कैसी भी भयानक बातें क्यों न सुनें, उससे हमें केवल कौतूहल होता है। यही बात हम लोगों के जीवन के अन्य क्षेत्रों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। कितनी ही घोर विपत्तियाँ हम लोगों के समीप आते-आते स्वयं नष्ट हो जाती हैं। संसार में जब एक से एक महत्त्वपूर्ण या भयावह घटनाएँ होती रहती हैं तब हम लोग अपने दैनिक जीवन की दैनिक बातों में इतने लिप्त रहते हैं कि उनकी ओर हम लोगों का केवल एक उपेक्षा भाव रहता है। जब हम लोगों के सिर पर मौत खेलती रहती है, तब हम लोग भी उसके सिर पर खेलते रहते हैं और निर्द्वन्द्व होकर आत्मानन्द के सिन्धु में बहते रहते हैं। ऐसा कौन व्यक्ति है कि महायुद्ध की विभीषिका से अपरिचित हो ? जब योरप में समराग्नि धधक रही थी, रूस तीव्र गति से बढ़ रहा था, जर्मनों का पराभव हो रहा था, भारतवर्ष में दुर्भिक्ष और अभाव-कष्ट के साथ राजनैतिक अशान्ति थी और कागजों के अभाव के कारण साहित्य के क्षेत्र में पुस्तक-प्रकाशन भी स्थगित हो गया था, तब भी कवियों की रचना-शक्ति कुण्ठित नहीं हुई थी

और स्थान-स्थान में सभी अवसरों पर कवि-सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा था। प्रेम के उच्छ्वासों और क्रान्ति के हुङ्कारों से पूर्ण कविताओं के गान से रसिक श्रेताओं का हृत्तन्त्री इस विश्वव्यापी समर-काल में भी बराबर कम्पित होता रही। जो लोग कल्पना के भाव-जगत् की अपेक्षा सत्य के यथार्थ जगत् से अधिक परिचित हैं, वे तो यही कहेंगे कि यह कैसे हो सकता है। जब संसार के कर्म-क्षेत्र में आँधी आ गई है, जब सभी व्यापार अस्त-व्यस्त हो गये हैं, जब शक्ति के भैरव नाद ने सर्वत्र आतङ्क फैला रक्खा है, तब हम लोग कल्पना के कोमल क्षेत्र में, प्रेम और वियोग के सङ्गीत में, कैसे लीन रह सकते हैं ? ऐसी स्थिति में तो हमें अपनी शक्ति को प्राप्त करने के लिए कठोर प्रयत्न करना चाहिए। प्रेम के मधुर स्वप्नों में लीन होकर जो अवसाद से पूर्ण होकर केवल निःश्वास लेता है, उसे तो रोग-ग्रस्त समझना चाहिए और जो संसार के इस भीषण ताण्डव-नृत्य को देखकर यह चीत्कार करता है कि मैं चाहूँ तो अपनी वाणी से आग लगा दूँ, सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर दूँ और अपने गान से पृथ्वी को विचलित कर दूँ, उसके इस गान को भी विकृत मस्तिष्क का प्रलाप ही समझना चाहिए। कवि की ऐसो कामना से शक्ति नहीं आ जाती है; शक्ति के लिए तो कठोर साधना करनी पड़ती है, दृढ़ प्रयास करना पड़ता है। संयम और धैर्य के साथ अन्तःशक्ति के उद्बोधन के लिए जो सत्य को अपनाता है, वही उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। उसकी स्फूर्ति में उल्लास रहता है, उसके साहस में दीप्ति रहती है, उसके विश्वास में दृढ़ता रहती है। न उसमें असंयम रहता है और न उन्माद ही। परन्तु उनके इस कथन में कुछ सार हो या न हो, इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में

कई वर्षों से कवि-सम्मेलनों की खासी धूम है और कविया के स्वर-वैचित्र्य में तरुणावस्था की मधुर व्याकुलता है।

कवि-सम्मेलनों में कभी-कभी किसी कवि की असाधारण क्षमता अवश्य प्रकट हो जाती है। धमतरी के कवि-सम्मेलन में मैंने पण्डित भवानीप्रसाद मिश्र की कुछ कविताएँ सुनीं। उन्हें सुनकर मैं विस्मय-विमुग्ध हो गया। मिश्रजी ने गीताञ्जलि के कुछ पद्यों का अनुवाद किया था। उन्हीं में से दो पद्यों को उन्होंने सुनाया था। 'शुभचिन्तक' में मैं उन्हें पढ़ भी चुका था; पर जब उन्हीं पद्यों को मैंने मिश्रजी के मुँह से सुना तब मुझे ज्ञात हुआ कि उनके शब्दों में कितनी शक्ति है और उनके कहने का ढङ्ग भी कितना अपूर्व है। सच तो यह है कि जब वे अपनी रचना सुनाते हैं तब उनकी उक्तियाँ ठीक हृदय पर आघात करती हैं, बुद्धि को कुछ समझने के लिए वे अवसर ही नहीं देतीं। भाव क्षण भर के लिए प्रत्यक्ष-से हो जाते हैं। यह सच है कि उनका प्रभाव स्थायी नहीं रहता। आज यदि कोई मुझसे पूछे कि उस दिन उन्होंने क्या सुनाया था, तो मैं कुछ भी न बतला सकूँगा। पर उस समय मैं उनकी रचना के माधुर्य में सचमुच डूब गया था। मिश्रजी के इस कला-नैपुण्य के आगे नतमस्तक होकर भी मैं यह नहीं मानूँगा कि कवि-सम्मेलनों से कुछ विशेष लाभ होता है। कविता गेय होने पर भी गान नहीं है। सङ्गीत के माधुर्य से कविता का माधुर्य कुछ और ही होता है। कविता के भाव-सौन्दर्य का उपभोग करने के लिए मन को भी प्रयास करना पड़ता है। एकमात्र स्वर-माधुर्य पर कवित्व का आश्रय नहीं रहता।

किसी कवि का कथन है कि कवि काव्य की रचना करता है, पर उसका रसोपभोग तो अन्य लोग ही करते हैं। वही रसिक कहलाते हैं। जो अरसिक हैं, काव्य के मर्मज्ञ नहीं हैं,

उन्हें कवित्व निवेदन करने से अधिक कठोर दण्ड की कल्पना करना कवियों के लिए पहले सम्भव नहीं था; पर इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-साहित्य की वर्तमान प्रगति में कवियों के साथ-साथ रसिकों की भी अधिक वृद्धि हो गई है। तभी तो सभी प्रकार के उत्सवों में कवि-सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है। फिर भी मैंने यह देखा है कि इन सम्मेलनों में मनोविनोद के लिए ही अधिकांश एकत्र होते हैं। कविता के रसोपभोग के लिए मन को जो प्रयास करना पड़ता है, उसके लिए अधिकांश लोग प्रस्तुत नहीं रहते। ऐसे लोगों के लिए यह सम्मेलन एक तमाशे से अधिक महत्ता नहीं रखता। अतएव जिन रचनाओं से उनका क्षणिक मनोविनोद होता है, उन्हीं की प्रशंसा भी वहाँ होती है। जिन रचनाओं में भावों की सूक्ष्मता है अथवा जो रचनाएँ आकर्षक ढंग से नहीं पढ़ी गई हैं, अथवा जिनमें कवित्व-कला का सच्चा निदर्शन है, वे प्रायः लोक-प्रिय नहीं हो सकतीं। इसके विपरीत जिन रचनाओं में एकमात्र भाषा का ही कोई चमत्कार है अथवा जिनमें सस्ती भावुकता है अथवा जो मनोमोहक ढंग से सुनाई गई हैं, या जिनमें विकृत हास्यरस है, वही ऐसे स्थानों में प्रशंसनीय हो जाती हैं। कवि-सम्मेलनों का एक प्रभाव कवियों पर यह पड़ा है कि वे भी अब अपने श्रोताओं को मुग्ध करने का अधिक प्रयास करते हैं। कालिदास की तरह वे यह नहीं मानते कि विद्वानों के परितोष में कविता की सफलता है। धमतरी के उसी सम्मेलन में छत्तीसगढ़ी भाषा में जो कविताएँ सुनाई गई थीं, उनको लोगों ने खूब पसन्द किया। कदाचित् लोक-रुचि का ही विचार कर मध्य-प्रान्त के दार्शनिक-शिरोमणि पण्डित बलदेवप्रसादजी मिश्र ने अपनी म्युनिसिपैल्टी शीर्षक हास्य-रसपूर्ण कविता पढ़ी थी। किसी भी विषय का अतिरञ्जित वर्णन कर हम

अपना क्षणिक मनोविनोद भले ही कर लें, पर उससे मन में कोई स्थायी भाव प्रकट नहीं होता। नाटकों और लीलाओं के विदूषक जैसे अपने चेहरे को विकृत कर निम्न कोटि के दर्शकों का मनोरञ्जन करते हैं, वैसे ही हम किसी बात को विकृत कर उससे क्षण भर लोगों का मन प्रसन्न कर लेते हैं। रस की उपलब्धि तो तभी होती है जब उक्ति में ऐसी अपूर्वता रहती है कि वह सत्य को और भी उज्ज्वल कर देती है, और मन उसे बुद्धि के द्वारा साग्रह स्वीकार कर लेता है।

अच्छी कविताएँ अल्पसंख्यक होती हैं; कवित्व-शक्ति दुर्लभ होती है। राजनीति के क्षेत्र में भले ही लोकमत की अपेक्षा न की जा सके, पर साहित्य के क्षेत्र में लोक-रुचि को परिष्कृत, उन्नत और निर्मित करने का भार तो कवियों पर रहता है। मैं स्वयं निरालाजी की कविता से आनन्द भले ही न पा सकूँ, पर उन्होंने अपने लिए जो नया मार्ग निकाला है, वह उनकी प्रतिभा का सूचक है। कवि स्वच्छन्द होता है। वह स्वान्तःसुखाय ही कविता की रचना करता है। उससे यदि संसार का कल्याण होता है, तो यह संसार के लिए अच्छी बात है; उससे यदि लोगों की मनस्तुष्टि होती है, तो कृतज्ञ होकर वे उसे साग्रह अपना लें; पर कवि स्वयं अपने में ही लीन रहता है। यही नहीं, वह अपनी रचना के आनन्द में अपने को भी भूल जाता है। लोग उसका अनुसरण करते हैं, वह किसी का अनुसरण नहीं करता।

कवि-सम्मेलनों में पठित और प्रशंसित अधिकांश रचनाओं के लिए हम अपनी कवित्व-कला पर गर्व नहीं कर सकते। यह सच है कि एकमात्र अपनी ही रुचि अथवा लोक-रुचि के आधार पर कविता की परीक्षा नहीं हो सकती; यही नहीं, कविताओं की उत्तमता के सम्बन्ध में विज्ञों में भी

मत-भेद हो जाता है। कुछ समय पहले एक सज्जन ने मुझे बतलाया कि एक बार किसी सभा में किसी प्रसिद्ध साहित्य-सेवी ने किसी प्रसिद्ध कवि की दो पंक्तियाँ उद्धृत कर यह कहा कि उनका कोई अर्थ ही नहीं है और आजकल ऐसी ही अर्थहीन कविता का प्रचार हो रहा है। इस पर एक युवक कवि ने उठकर उन्हीं पंक्तियों की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की। उसका यह निष्कर्ष निकाला गया कि उक्त महोदय को यदि उन पंक्तियों का अर्थ ज्ञात नहीं हुआ तो वह उनकी बुद्धि का दोष था, कवि का नहीं। किसी भी पंक्ति का विलक्षण अर्थ निकालने में व्याख्याता की विलक्षण बुद्धि चाहिए, कवि की नहीं।

मेरे एक मित्र रामचरितमानस की चौपाइयों के ऐसे-ऐसे विलक्षण अर्थ निकालते थे कि सुननेवाले विस्मय-विमुग्ध हो जाते थे। अतएव व्याख्याओं के द्वारा भी किसी कविता की उत्तमता सिद्ध नहीं होती। यह तो मानना ही पड़ेगा कि अच्छी कविता स्वयं हृदय पर आघात करती है। उसके लिए लम्बी-चौड़ी व्याख्या की आवश्यकता नहीं होती। पर यह भी सच है कि वह सभी के हृदय पर समान रूप से आघात नहीं करती। रसिकों के हृदय पर कविता का जो प्रभाव पड़ेगा, वह साधारण व्यक्तियों पर नहीं। भावों की सूक्ष्मता और अस्पष्टता में प्रत्यक्ष कोई भेद नहीं रहता। अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भाव सर्वसाधारण के लिए तो अस्पष्ट हो जाते हैं, परन्तु जो काव्य के मर्मज्ञ होते हैं, वे उसी भाव-सूक्ष्मता पर मुग्ध होते हैं। कहते हैं कि एक बार ब्राउनिंग की कविता प्रकाशित होने पर टेनीसन ने कहा था कि मैं उसकी एक भी पंक्ति नहीं समझ सका। इससे टेनीसन की अयोग्यता या अक्षमता प्रमाणित नहीं होती। जब तक हम कवि की दृष्टि को नहीं अपना लेते हैं तब तक हमें उसके काव्य का यथार्थ मर्म

समझने में अवश्य कठिनता होती है। अच्छे कवियों में भाव की जो सूक्ष्मता रहती है, वह अकृत्रिम होती है, इसीलिए वह सरस हो जाती है। पर कुछ ऐसे भी कवि होते हैं, जो अपनी शक्ति के अभाव के कारण जान-बूझकर अपनी कविता को दुर्बोध बनाने का प्रयत्न करते हैं। भाव न रहने से केवल शब्द-जाल-द्वारा विलक्षणता या भाव-गाम्भीर्य लाने का कृत्रिम प्रयास किया जाता है। यही कारण है कि सुकवियों की उदात्त कल्पनाशक्ति और कुकवियों की कृत्रिम शब्दजाल-रचना में साधारणत: कोई भेद प्रतीत नहीं होता, पर कुछ समय के बाद स्वयं काल ही यह निर्णय करता है कि किन रचनाओं में कितना सार है।

सभी लोग कवि नहीं हो सकते। सभी की रचनाएँ सुन्दर नहीं हो सकतीं; तो भी अधिकांश नवयुकों में कविता की ओर जो एक विशेष प्रवृत्ति होती है, उसका मैं सदैव अभिनन्दन करता हूँ। साहित्य में प्रवेश पाने के लिए यह सभी के लिए आवश्यक है कि वे पद्य-रचना का अभ्यास करें। काव्य के क्षेत्र में वे भले ही तिरस्करणीय हों, पर मेरा यह खयाल है कि गद्य के क्षेत्र में उससे अवश्य लाभ होता है। पद्य-रचना के अभ्यास से भाषा पर अधिकार हो जाता है, उससे शब्दों की गति विदित हो जाती है, उससे हम अपने भावों को संयत और अलंकृत करने की भी शिक्षा पाते हैं। कम शब्दों में अधिक भाव अभिव्यक्त करने की कला गद्य के लिए भी उतनी ही आवश्यक है जितनी पद्य के लिए। इन्हीं कारणों से कवित्व गुण न रहने पर भी मैं अपनी पद्य-रचना का अभ्यास नहीं छोड़ना चाहता। मैं लेख भले ही न लिखूँ, पर पद्य अवश्य लिखता हूँ। दैनिक जीवन की कोई भी बात मेरे लिए मेरी कविता का विषय बन जाती है। मन की विभिन्न स्थितियों

और हृदय की सभी क्षुद्र भावनाओं को प्रकट करने का वही एक साधन मेरे पास है। यह सच है कि उन पद्यों को लेकर मैं कवियों की पंक्ति में बैठने का साहस कभी नहीं करता। इसीलिए मैंने कवि-सम्मेलनों में सम्मिलित होने का दुस्साहस कभी नहीं किया।

एक बार जब मुझे कवि के रूप में एक कवि-सम्मेलन में सम्मिलित होना पड़ा था, तब मेरी जो मानसिक अवस्था हुई थी, उसे मैं अभी तक नहीं भूल सका हूँ। उन दिनों डाक्टर बलदेवप्रसादजी मिश्र रायगढ़ के दीवान थे। मुझ पर उनकी सदैव कृपा-दृष्टि रही है, इसीलिए उनका आदेश पाकर मैं रायगढ़ गया। वहाँ कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। उसके सभापति थे सनेहीजी। वहीं मैंने सनेहीजी को सबसे पहली बार देखा। उनके साथ दो-तीन कवि और भी आये थे। उन दिनों, डायरी के रूप में, मैं भी पद्य लिखा करता था। उन्हीं में से कुछ पद्यों को मैंने वहाँ सुनाया। कविता सुनाना कितना कठिन काम है, यह मैंने तब जाना। मैं तो बिलकुल काँप गया था, मेरे मुँह से शब्द भी साफ-साफ नहीं निकलते थे। मैं अच्छी तरह कह सकता हूँ कि मेरे अतिरिक्त और कोई दूसरा उन पद्यों को नहीं सुन सका होगा। इसके बाद भी कई बार अपनी इच्छा के विरुद्ध कवि-सम्मेलनों में मुझे सम्मिलित होना पड़ा, पर फिर मैंने कोई कविता नहीं पढ़ी। अतएव मैं उन नवयुवकों के साहस की अवश्य प्रशंसा करता हूँ जो कवि-सम्मेलनों में बड़े उत्साह से अपनी रचना सुनाया करते हैं। किन्तु एक श्रोता के रूप में मैं तो यही कहूँगा कि उनमें से अधिकांश की रचनाएँ यदि कवि-सम्मेलनों में न सुनाई जातीं तो उससे कवि-सम्मेलनों की अधिक शोभा होती। अधिकांश

रचनाओं के प्रति श्रोताओं की केवल विरक्ति ही प्रकट होती है और जिन दो-चार रचनाओं की ओर वे आकृष्ट होते हैं, वे भी प्रायः कवित्व-कला की सच्ची कसौटी पर खरी प्रमाणित नहीं होतीं।

कभी-कभी मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि न जाने किस कामना से प्रेरित होकर कोई कवि विरक्त श्रोताओं को बार-बार अपनी रचना सुनाने के लिए व्यग्र होता है। पहले कवियों के लिए अरसिकों को कवित्व-निवेदन अभिशाप था, पर अब श्रोताओं के लिए कितने ही कवियों का कवित्व-निवेदन अभिशाप हो जाता है। लोगों में विरक्ति के चिह्न लक्षित होने पर भी कवि अपनी रचना सुनाते ही जाते हैं। ऐसे अवसर पर सभापति महोदय को कई बार विवश होकर ऐसे कवियों को रोकना पड़ता है।

कवि-सम्मेलन के बाद भी कभी-कभी कवियों की ही एक बैठक जम जाती है। उसमें कविगण परस्पर एक दूसरे की रचना सुनकर और प्रशंसा कर आत्म-सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं। एक प्राचीन लोकोक्ति है कि कपि अचपल नहीं होता और कवि अमत्सर नहीं होता। पर वर्तमान कवियों में मात्सर्य की अपेक्षा उदारता और सहिष्णुता ही मैंने अधिक देखी है। जिन रचनाओं से श्रोताओं को विरक्ति होती है, उनकी भी यथेष्ट प्रशंसा करने में वे नहीं चूकते। कवियों का कवियों के द्वारा ही जो उत्साह-वर्धन होता है, वह सर्वसाधारण से नहीं होता। अतएव कवि-सम्मेलन न कर कविगण यदि स्वयं अपनी बैठक कर लिया करें तो वह उनके लिए अधिक गौरवजनक हो। जनता में कविता पढ़ने से सस्ती कीर्ति भले ही प्राप्त हो, पर कवियों के लिए वह वाञ्छनीय नहीं है। पत्र-पत्रिकाओं के

द्वारा कविताएँ जितनी अच्छी तरह जनता के पास पहुँचती हैं, उतनी कवि-सम्मेलनों के द्वारा नहीं।

नेता जनता के बीच रहकर काम करता है और कवि जनता से पृथक् रहकर काम करता है। कविता का क्षेत्र राजनैतिक क्षेत्र से सर्वथा भिन्न होता है। राजनीति के क्षेत्र में यह आवश्यक है कि जनता में किसी विशेष सिद्धान्त का प्रचार किया जाय। इसके लिए प्रचार के जितने साधन हैं, वे सभी काम में लाये जाते हैं। कवि-सम्मेलनों में भी कभी-कभी शराब-बन्दी, अछूतों की समस्या और युद्ध और क्रान्ति पर रचनाएँ पढ़ी जाती हैं, जिनसे लोगों में उन विषयों का ज्ञान प्रचलित हो जाय। यह काम अनावश्यक नहीं है, परन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कविता से विशुद्ध आनन्द की सृष्टि होती है। दुःख और शोक, भय और घृणा, क्रोध और आतङ्क ये सभी भाव रस के रूप में परिणत होकर कवि के हृदय से निस्सृत होते हैं। रचना में कल्पना का जितना ही विशुद्ध भाव रहेगा, सौन्दर्य का जितना ही चिरन्तन रूप रहेगा, उतनी ही अधिक उसकी महत्ता है। हिन्दी में प्रचार-कार्य की ओर जितना ध्यान है उतना निर्माण-कार्य की ओर नहीं है। समालोचना के नाम से किसी-किसी की ऐसी प्रशंसा होती है कि वह औचित्य की सीमा लाँघ जाती है। इसी प्रकार कितनी ही रचनाएँ उपेक्षित पड़ी रह जाती हैं। यहाँ कीर्ति भी सस्ती है और उपेक्षा भी सुलभ है। इसके अतिरिक्त एक ही प्रकार के काम करने की ओर बड़ी प्रवृत्ति है। कविताओं और कथाओं में जो एक-रूपता शीघ्र ही आ जाती है, उसका कारण यही प्रवृत्ति है। प्रचार के इस युग में यह सम्भव है कि कोई अच्छी रचना लुप्त हो जाय। जहाँ सभी प्रकार की रचनाएँ निकल रही हैं, जहाँ सभी तरह

की रचनाओं की प्रशंसा होती है, वहाँ यह भय निर्मूल नहीं है। आजकल कुछ विज्ञ ग्रामगीतों के संग्रह के लिए ही व्यग्र हैं और उन्हीं की बड़ी लम्बी-चौड़ी व्याख्याएँ कर उन्हें प्रकाशित करने के लिए बड़ा प्रयास करते हैं। यदि वे सब कविताएँ हैं और संरक्षणीय हैं तो सड़कों पर लोग जो सैकड़ों गाने गाते फिरते हैं, वे क्यों साहित्य की अपूर्व निधि नहीं हैं ? लौकिक सहित्य में ऐसी सैकड़ों रचनाएँ बनती हैं और नष्ट होती हैं। उनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। जो ग्राम-गीत कुछ समय पहले गाये जाते थे, वे अब ग्राम-वासियों द्वारा भी छोड़ दिये गये हैं। वे लोग अब दूसरे प्रकार के गीत गाने लगे हैं। ये गीत भी पुराने हो जावेंगे और फिर नये गीत आवेंगे। इनके लिए क्यों इतना आग्रह है, यह मेरी समझ में नहीं आता। इसी तरह हिन्दी के निर्माताओं के परिचय तो खूब निकल रहे हैं, पर सप्रे जी के समान कृतविद्य लेखकों के भी अच्छे लेखों का संग्रह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है, जो साहित्य के लिए गौरवजनक होता। नये लेखकों में आनन्दी-प्रसाद श्रीवास्तव ने पद्यों में जो ऐतिहासिक संवाद लिखे हैं, वे मेरी समझ में अपूर्व हैं। पर आजकल वे 'सरस्वती' की पुरानी प्रतियों में ही पड़े हुए हैं। इसी प्रकार उच्च कोटि के कितने ही ऐसे लेख हैं, जो मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर भी अभी तक प्रकाश में नहीं आये। हिन्दी में साहित्य की वृद्धि के लिए तो कम प्रयास किया जाता है; पर अनावश्यक कार्यों में तथा सस्ती कीर्ति और प्रचार के कामों में शक्ति का अपव्यय होता है। मेरी तो यही धारणा है। सम्भव है, यह मेरा भ्रम हो; पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि विशुद्ध साहित्य-प्रेम से प्रेरित होकर हम लोग कम काम करते हैं।

## अभ्यास के लिए

(१) कवि-सम्मेलनो मे प्राय किस प्रकार की रचनाओ का आदर होता है और क्यों ?

(२) राजनीतिक नेता तथा कवि के कार्य-क्षेत्रो मे क्या अन्तर है ?

(३) नवयुवको को कवि-सम्मेलनो मे भाग लेने से क्या लाभ हो सकता है ?

(४) लेखक ने इस लेख मे हमारे किन दोषों की ओर सकेत किया है ?

(५) कवि-सम्मेलनो की उपयोगिता पर एक निबध लिखिए।

---

# १६—कवीन्द्र-रवीन्द्र

बाबू गुलाबराय

श्री। गुलाबरायजी का जन्म मैनपुरी मे हुआ था। आप कुछ समय तक छतरपुर-महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। आज-कल आप आगरे के सेन्ट जान्स कालेज मे हिन्दी के अध्यापक है।

बाबू गुलाबरायजी दर्शन तथा साहित्य-शास्त्र के प्रगाढ पण्डित है। 'तर्क-शास्त्र', 'कर्तव्य-शास्त्र', 'फिर निराशा क्यो ?' आदि आपके दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थ है। 'नव रस', 'हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास', 'नाट्य-विमर्श' आदि आपकी साहित्यिक रचनाएं है तथा 'प्रबन्ध-प्रभाकर' उनका एक निबन्ध सग्रह है। आपके आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओ मे सदा प्रकाशित होते रहते है। 'साहित्य-सन्देश' का सम्पादन कर, आप विद्यार्थी-जगत् की अमूल्य सेवा कर रहे है। दार्शनिक होने के कारण

आपके निबधो मे गभीरता एव मननशीलता है। आपकी भाषा सर्वत्र सस्कृत-निष्ठ और परिष्कृत है, किन्तु बडी ही स्पष्ट तथा सुलझी हुई है।

बंगाल में ठाकुर-परिवार साहित्य, संगीत और कला में प्रवीणता के लिए प्रख्यात है। उस घर में सरस्वती और लक्ष्मी अपने स्वाभाविक वैमनस्य को त्यागकर चिर-काल से एक-दूसरे का अनुरंजन करती हुई विलास करती रही है। रवीन्द्र बाबू के जन्म के समय इस कुल में तत्कालीन बंगाल की धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक जागृति के स्रोत स्वच्छन्दता से, परन्तु मर्यादित रूप से बह रहे थे। कवि के पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ब्रह्मोसमाज के एकेश्वरवाद में दृढ़ विश्वासी होते हुए भी हिंदू-संस्कृति के संरक्षक थे। वे बंगाल में ईसाई धर्म की बाढ़ को, जो कि कालोचरन बनर्जी, लालबिहारी दे, कृष्णमोहन बनर्जी, माइकेल मधुसूदन दत्त जैसे नर-रत्नों को अपने प्रवाह में बहा ले गई थी, रोकने में बड़े सहायक हुए।

रवीन्द्र बाबू का जन्म ६ मई सन् १८६१ में हुआ। यह समय बंगाल में साहित्यिक वसंत का गिना जाता है। इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं कि रवीन्द्र बाबू में आगे चलकर इस वसंतश्री का पुनीत प्रभाव पूर्णतया प्रस्फुटित हुआ।

रवीन्द्र बाबू का बाल्यकाल ठाकुर-परिवार के जोड़ासाँको नामक प्रासाद में व्यतीत हुआ। यह स्थान कलकत्ता नगर के केन्द्र में है, जहाँ से वे मानव-जीवन के चित्र-विचित्र दृश्यों को पञ्जरबद्ध पक्षी की भाँति देखा करते थे। वे नौकरों-द्वारा खींची हुई रेखा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। वे सीताजी के रेखोल्लंघन के दुष्परिणाम को जानते थे। उन्होंने 'जीवन-

स्मृति' में अपने घर के जंगले में से देखे हुए निकटस्थ कुंड पर स्नान करनेवालों का क्रिया-विधान बड़े मनोरंजक शब्दों में लिखा है। इतने सम्पन्न परिवार में जन्म लेकर भी उनके बाल्य-काल के जीवन में विलासिता का लेशमात्र भी न था। दस वर्ष की अवस्था तक उन्होंने मोजे और जूतों का व्यवहार नहीं जाना था। जाड़े के दिनों में एक कुर्त्ते के ऊपर दूसरा कुर्त्ता ही पहन लेना पर्याप्त था। हाँ, जब कभी उनका दर्जी नियामत, कुर्त्ते में जेब लगाना भूल जाता था तो वह अवश्य असंतोष का कारण होता था; क्योंकि कोई भी ऐसा गरीब परिवार नहीं है कि जिसके बच्चे अपने कपड़ों में जेब न रखते हों और कोई भी ऐसा बच्चा नहीं जो अपनी जेबों के लिए कुछ सामग्री न जुटा सकता हो। इस प्रकार की सामग्री में गरीब और अमीर बच्चों में कोई अन्तर भी नहीं होता। बचपन में साम्यवाद की प्रधानता रहती है।

बालक रवीन्द्र का वही हाल था जो प्रायः बड़े आदमियों के लड़कों का होता है। बहुत बड़े आदमी अपने बच्चों की देख-रेख स्वयं नहीं कर सकते। इसके लिए उन्हें फुरसत कहाँ? नौकरशाही में ही उनका लालन-पालन हुआ और उसकी उनको बड़ी कटु स्मृति है। वे उसको गुलाम-बादशाहों के राज्य के समान अव्यवस्थित बतलाते हैं। उनकी शिक्षा में ताड़ना की मात्रा अधिक थी। बाल्यकाल के स्वतन्त्रता के अभाव ने ही उनके मन में स्वतन्त्रता का उचित मूल्य स्थापित कर दिया था। थोड़ी-सी स्वतन्त्रता को भी वे ईश्वरदत्त वर मानते थे। एक बार ग्यारह वर्ष की अवस्था में जब उनको पूज्य पिताजी के साथ यात्रा में जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तब से नौकरशाही के कठिन बन्धन शिथिल हो गये और उनके

लौटने पर वे नौकरी के अधिकार में न रहकर भीतर घर में रहने लगे।

बालक रवीन्द्र को स्कूल के पाठ्य-क्रम से अरुचि थी। उनकी स्कूल-शिक्षा की व्यवस्था ठीक न रही। उनके एक बड़े भाई जज थे। उनका परिवार 'ब्राइटन' में रहता था। वे रवीन्द्र बाबू को शिक्षा के लिए विलायत ले गये। व्यावहारिक दृष्टि से वहाँ भी उनकी शिक्षा का क्रम ठीक न रहा; किन्तु वहाँ उन्होंने अँगरेजी साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। काव्य रचना तो वे प्रायः बाल्यकाल से ही करने लगे थे, और विलायत में भी बँगला की कविता करते थे। गाने के लिए उनका कण्ठ प्रारम्भ से ही मधुर था। गाने के इस माधुर्य्य के कारण उनको एक बार बड़ा दंड भुगतना पड़ा था। किसी भारतीय सिविल सर्विस के अफसर की विधवा को उसके पतिदेव की स्मृति में बनाये हुए एक बंगाली करुण-गीत को विहाग राग में सुनने की चाट लग गई थी। रवि बाबू का गायन तो मधुर था ही, किन्तु अपने मेहमानों को उस गीत के सुनवाने में उस अँगरेज की विधवा के आत्मभाव की भी वृद्धि होती थी। वह गीत विहाग में गाने का न था। उसके गाने में रवीन्द्र बाबू को एक विशेष कष्ट होता था, जिसका एक सुगायक ही अनुभव कर सकता है। एक बार उसी महिला ने उनको लन्दन से विलायत के किसी ग्राम में बुलाया। वे बेचारे रात में पहुँचे, भोजन भी न मिला। भूखे पेट सोना पड़ा; रात को सराय में ठहरना पड़ा; सुबह को बासी खाना मिला—जो यदि रात को ही दे दिया जाता तो कुछ अंग लगता और सबसे बड़ी बात यह कि जिस महिला को गीत सुनाने के लिए वे बुलाये गये थे, वह बीमार थी, उसके दर्शन भी न हुए और उनको कमरे के बाहर से ही गीत सुनाना पड़ा। लन्दन लौटने पर वे बीमार पड़ गये।

लौटने पर डाक्टर स्काट से, जिनके यहाँ वे ठहरे थे, उन्होंने सब हाल कहा। उनकी लड़कियों ने बड़ी लज्जा प्रकट करते हुए कहा कि इस उदाहरण से अँगरेजी मेहमानदारी का अनुमान न लगाइएगा।

रवीन्द्र बाबू का जीवन कोरी काव्य-रचना में ही नहीं बीता। उनके पूज्य पिताजी ने अपने अन्य पुत्रों की फिजूल-खर्ची और व्यावहारिकता देखकर रवि बाबू को उनकी इच्छा के विरुद्ध जमींदारी का काम सौंप दिया। वे महर्षि की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे, अतः वे अपने गाँव में चले गये। वहाँ पद्मा (गंगाजी का दूसरा नाम) के किनारे का वातावरण उनके मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत अनुकूल पड़ा। उनकी रचनाओं में गंगा, तरी और धान के खेतों की अधिक छाया मिलती है। इस काल में उनकी प्रतिभा का प्रकाश खूब चमका और उन्होंने जमींदारी के काम के साथ-साथ बड़ी उच्च कोटि की साहित्य-सेवा की। वहाँ से 'भारती' और 'साधना' नाम की पत्रिकाएँ भी निकालीं। उनकी 'सोनारतरी' गीत-काव्यों की संग्रहात्मक पुस्तक, जो सन् १८६१ से १८६३ तक लिखी गई, उस समय की रचनाओं की प्रतिनिधि-स्वरूप है। उसके पश्चात् सन् १८६८ से लगाकर १६०५ तक धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक उथल-पुथल का समय आता है। इस काल में उन्होंने धार्मिक काव्य लिखा और बहुत-सा समय शान्ति-निकेतन में व्यतीत किया। धार्मिक काव्य के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, वह यह कि उन्होंने वैष्णव कवियों का अनुकरण करते हुए भानुसिंह (रवि और भानु पर्य्यायवाची शब्द हैं) के नाम से कुछ काव्य लिखा। अनुकरण की उत्तमता के कारण लोग सहज में ही धोखे में आ गये, यहाँ तक कि डाक्टर निशिकान्त चटर्जी ने अपने

डाक्टरेट की उपाधि के लिए पेश किये हुए लेख में प्राचीन बँगला गीत-काव्य के सम्बन्ध में लिखते हुए भानुसिंह की कविता को बड़े आदर का स्थान दिया है और आश्चर्य की बात है कि उस लेख पर उनको डाक्टर की उपाधि भी मिल गई।

सन् १६०५ से लेकर सन् १६१६ तक का उनकी 'गीताञ्जलि' और उसके कारण उनकी बढ़ती हुई ख्याति का समय है। 'गीताञ्जलि' की कविताओं का अँगरेजी अनुवाद उन्होंने कुछ स्यालदह में और कुछ स्वास्थ्य-सुधार के निमित्त विलायत जाते समय जहाज पर किया। इँगलिस्तान में रवीन्द्र बाबू ने वह अनुवाद अपने दो-एक मित्रों को भी दिखलाया। लोग उसकी आध्यात्मिकता और संगीतमयता को देखकर चकित हो गये। स्वयं रवीन्द्र बाबू को भी उसके लिए उतनी आशा न थी। सन् १६१३ में, जब कि रवीन्द्र बाबू 'शान्ति-निकेतन' में ही थे. उनके 'नोबेल-पुरस्कार' पाने की उनको सूचना मिली। उस सूचना का सारे भारत ने सहर्ष स्वागत किया। 'नोबेल-पुरस्कार' का मिलना, भारत के ही नहीं, सारे एशिया के लिए गौरव की बात थी। ब्रिटिश साम्राज्य में भी साहित्य के लिए यह शायद दूसरा ही पुरस्कार था। पहला पुरस्कार 'रूडयर्ड किपलिङ्ग' को मिला था। उस समय से रवीन्द्र बाबू की ख्याति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही थी। योरप और अमरीका में वे कई बड़ी-बड़ी व्याख्यान-मालाओं के देने के लिए आमंत्रित हुए। 'नोबेल-पुरस्कार' से जो द्रव्य मिला तथा उनके व्याख्यानों की सब आय कवि की प्रिय संस्था 'शान्ति-निकेतन' की उपयोगिता बढ़ाने में खर्च हुई। सन् १६१६ के बाद भी उनका रचना-कार्य स्थगित नहीं हुआ। उन्होंने विदेशों की खूब यात्रा की और सभी जगह उचित सम्मान पाया। वे चीन और जापान भी गये थे। हवाई जहाज-द्वारा उन्होंने ईरान

की भी यात्रा की थी। इस प्रकार उन्होंने अपने पर्यटन-द्वारा एक विश्व-बन्धुत्व स्थापित कर दिया था। उनकी स्थापित की हुई—"विश्वभारती" जिसका 'यत्र विश्वे भवत्येक नीड़म्'—अर्थात् "जहाँ पर सारा विश्व एक घोंसला बन गया है" आदर्श वाक्य है, विश्व-बन्धुत्व के भाव को चरितार्थ कर रही है। उनका सिद्धान्त है कि एक दूसरे की संस्कृति को समझकर लोग एक-दूसरे के साथ भ्रातृ-भाव रख सकते हैं।

रवीन्द्र बाबू की कविताओं का बड़ा विस्तार है। समुद्र की भाँति जैसा उनका विस्तार है, वैसा ही उनका गाम्भीर्य भी है। उनमें सत्कवि के सभी गुण थे। उनकी कल्पना बड़ी उर्वरा है, शब्द-चित्र खींचने में वे बड़े ही निपुण थे। उनकी लेखनी चित्रकार की तूलिका को बहुत पीछे छोड़ देती है। काव्य में बिना अनावश्यक और निरर्थक शब्दों के समावेश किए संगीत उत्पन्न करने में बहुत थोड़े लोग उनकी बराबरी कर सकते हैं। उन्होंने अगणित नवीन छन्दों का निर्माण किया है। उन्होंने साहित्य, संगीत का अनुपम योग किया है। उनकी सरलता में गौरव और गाम्भीर्य है। इस छोटे-से निबन्ध में उनकी कविता का दिग्दर्शन-मात्र कराया जा सकता है।

उनकी कविता केवल कविता नहीं है, वरन् उसमें एक आध्यात्मिकता भरी हुई है। उनकी कविता को उनके दार्शनिक और धार्मिक भावों से अलग करना कठिन होगा। उन्होंने लौकिक कविता की है, किन्तु उस लौकिक में भी एक दैवी आभा दिखाई पड़ती है। वास्तव में कवि के लिए स्वर्ग और संसार में कोई भेद नहीं। वे सुख-दुःखमय संसार को ही प्रधानता देते हैं।

इसी प्रकार उनकी कविता में भी यह नहीं मालूम पड़ता कि उसमें कहाँ तक लौकिक श्रृंगार है और कहाँ तक दिव्य रूप।

'सोनारतरी की कविताओं में उन्होंने घरेलू चित्र खींचे हैं; वे सब कविताएँ आध्यात्मिक महत्त्व रखती हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि सभी कविताओं में खींच-तानकर आध्यात्मिक अर्थ लगाये जायँ; किन्तु उनकी अधिकांश कविताओं में आध्यात्मिक गाम्भीर्य है। "गार्डनर" में संगृहीत कुछ कविताएँ ऐसी हैं, जिनमें शृंगार की मात्रा अधिक है और आध्यात्मिकता की मात्रा कम। किन्तु उनके शृंगार और करुण सबमें विश्वतंत्री की झंकार सुनाई पड़ती है। उनका शृंगार और मिलन भी आत्मा के विकास के लिए ही है। वे बाह्य सौन्दर्य का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी आध्यात्मिक आन्तरिक सौन्दर्य को अधिक महत्त्व देते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी "चित्रांगदा" पढ़ने योग्य है। सौन्दर्य-तत्त्व की उसमें बड़ी सूक्ष्म और गंभीर विवेचना है।

रवीन्द्र बाबू के सौन्दर्य-बोध के सम्बन्ध में इतना और कह देना अनुपयुक्त न होगा कि वे सौन्दर्य को विषय-गत और विषयी-गत दोनों ही मानते हैं; अर्थात् सौन्दर्य वस्तु में भी है, और द्रष्टा की दृष्टि में भी है। बिहारी के शब्दों में "रूप रिझावन हार यहु, वे नयना रिझवार।"

रवीन्द्र बाबू का यह मत है कि सौन्दर्य का अच्छा उपभोग आत्मा-द्वारा ही हो सकता है; क्योंकि वह आत्मा की ही वस्तु है। उन्हें कला और आचार का विच्छेद अभीष्ट नहीं। उनकी कविता में कला है, किन्तु उसमें आचार-सम्बन्धी अराजकता नहीं है, उसमें मर्यादा है। वे तुलसीदासजी की भाँति उसी कविता को उत्तम मानते थे जो "सुर-सरिता-सम सब कहँ हितकर होई।" उन्होंने अपनी कविता में "सत्यं शिवं सुन्दरम्" का आदर्श चरितार्थ किया है।

**उनका एक विशेष व्यक्तित्व था, जो अपना स्वाभाविक आकर्षण रखता था। वे सच्चे कवि थे, उनका जीवन काव्य-मय था। विश्वकवियों में उनका आसन बहुत ऊँचा है।**

## अभ्यास के लिए

(१) रवीन्द्रजी के बाल्यकाल पर प्रकाश डालिए।
(२) रवीन्द्रजी की मुख्य रचनाओं का परिचय दीजिए।
(३) शान्तिनिकेतन की स्थापना किस उद्देश्य से हुई है?
(४) रवीन्द्र बाबू के जीवन से तुम्हें क्या शिक्षा मिलती है।

---

# १७—मधूलिका

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

'प्रसाद' जी का जन्म माघ शुक्ल १० सं० १९४६ वि० को काशी में हुआ। १२ वर्ष की अवस्था में ही आपके पिता का स्वर्गवास हो गया। अतः आपने घर पर ही संस्कृत, बँगला, फारसी, अँगरेजी आदि की शिक्षा प्राप्त की। स्वाध्याय से आपने वेद, उपनिषद् भारतीय तथा बौद्ध-दर्शन, हिन्दू-कालीन इतिहास आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। आपकी सभी कृतियों में आपके विशद अध्ययन का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। आपके मौलिक नाटक हिन्दी की एक स्वर्णिम निधि हैं। आपके 'विशाख', 'कामना', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'राज्यश्री', 'एक घूँट', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' नाटकों एवं अधिकांश कहानियों में भारत के अतीत गौरव, ऐश्वर्य और संस्कृति की अच्छी झलक है। 'आँधी', 'आकाशदीप', 'प्रतिध्वनि' आदि अनेक कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके

है। 'कंकाल' और 'तितली' आपके उपन्यास हैं। काव्य-क्षेत्र में आप छायावाद-युग के संस्थापक कहे जाते हैं। आपकी 'कामायनी' मंगलाप्रसाद पारितोषिक-द्वारा पुरस्कृत एक उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य तथा 'आँसू' 'लहर', 'झरना', 'कविता-कानन' आदि अन्य कविता-संग्रह हैं।

'प्रसाद' जी की शैली की विशेषता है—आपकी अद्भुत प्रियता—'समास' की प्रवृत्ति, भावुकता और बौद्ध निराशावाद-जनित एक व्यापक करुणा। साथ ही, आपकी भाषा-शैली भी उपर्युक्त तत्त्वों को यथावत् ग्रहण करके यथोचित शब्द-माधुर्य या शब्द-कर्कशता द्वारा व्यक्त कर सकने के उपयुक्त है। कहानियों में आये हुए छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा आपने भावों का उत्कर्षापकर्ष बहुत ही अच्छी तरह दिखलाया है। कहानी-कला की दृष्टि से आपकी गल्पों का आदि प्रायः कथोपकथन अथवा चित्ताकर्षक प्रकृति-वर्णन से प्रारम्भ होनेवाला, मध्य गतिशील और रोचक तथा सारभूमि—'क्लाइमैक्स'—की ओर ले जानेवाला, तथा अवसान व्यंजनात्मक एवं चमत्कारपूर्ण होता है। भाषा आपकी विशुद्ध, संस्कृत-गर्भित तत्सम-पदों से युक्त, ओजमयी तथा भावानुकूल होती है। उर्दू-पदों तथा मुहावरों का प्रयोग लगभग नहीं के बराबर रहता है। फिर भी उसमें नीरसता और अनावश्यक एकरसता—'मानोटोनी' का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार आपकी भाषा संस्कृत-गर्भित होते हुए भी कहानी की उत्कृष्टता में किसी प्रकार बाधक नहीं होती, बल्कि अपनी सांकेतिक व्यंजना-शक्ति द्वारा नवीन विचारधाराओं को स्वयं जागृत करने में समर्थ होती है।

**आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभि का गम्भीर घोष। प्राचीर के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अञ्चल में समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जय-घोष हुआ, भीड़ में**

गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। हर्ष और उत्साह का वह समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरञ्जित नन्हीं-नन्हीं बूँदों का एक झोंका स्वर्ण मल्लिका के समान बरस पड़ा। मङ्गल सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्र-पल्लवों से सुशोभित मङ्गल-कलश और फूल, कुम्कुम तथा खीलों से भरे थाल लिये, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्कान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रञ्जित हल की मूठ पकड़कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ा—उस दिन इन्द्र-पूजन की धूमधाम होती, गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में आकर बड़े चाव से योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कौतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिये कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था।

इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौषेय वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सँभालती और कभी अपनी रूखी अलकों को। कृषक-बालिका के शुभ्र भाल पर श्रम-कणों की भी कमी न थी। वे सब बरौनियों में गुँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते, किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता न दिखलाई। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कौतूहल से; और अरुण देख रहा था कृषक-कुमारी मधूलिका को। आह, कितना भोला सौन्दर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली, किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्ण-मुद्राओं को महाराज पर न्यौछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे।

महाराज की भृकुटि भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—"देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है, इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।"

महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मन्त्री ने तीखे स्वर से कहा—"अबोध! क्या बक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है; फिर कोशल का यह सुनिश्चित राजकीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई; इस धन से अपने को सुखी बना।"

"राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है मन्त्रिवर !········ महाराज को भूमि समपर्ण करने में तो मेरा कोई विरोध न था, और न है; किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है।" मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मन्त्री ने कहा—"देव ! वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एकमात्र कन्या है।"

महाराज चौंक उठे—"सिंहमित्र की कन्या ! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है ?"

"हाँ, देव !" सविनय मन्त्री ने कहा।

"इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं मन्त्रिवर ?"—महाराज ने पूछा।

"देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुनकर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रह-पूर्वक अर्थात् भूसम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।"

महाराज को विचार-सङ्घर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जय-घोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने शिविरों में चले गये। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ। वह अपने विश्राम-भवन में

जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल रही थी, वही रङ्ग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुँडेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पङ्ख फैलाए अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगर-तोरण पर जा पहुँचा। रक्षकगण ऊँघ रहे थे। वे अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरङ्ग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी-लता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित थे, भ्रमर निस्पन्द ! अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिए। परंतु कोकिल बोल उठी। उसने अरुण से प्रश्न किया—"छिः, कुमारी के सोये हुए सौन्दर्य पर दृष्टिपात करनेवाले धृष्ट, तुम कौन ?" मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह सङ्कोच से उठ बैठी।

"भद्रे ! तुम्हीं न कल के उत्सव की सञ्चालिका रही हो ?"

"उत्सव ! हाँ उत्सव ही तो था।"

"कल उस सम्मान

"क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है ? भद्र ! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे ?"

"मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है, देवि !"

"मेरे उस अभिनय का—मेरी विडम्बना का। आह ! मनुष्य कितना निर्दय है ! अपरिचित, क्षमा करो ! जाओ अपने मार्ग !"

"सरलता की देवि! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी..........."

"राजकुमार! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दनविहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीनेवाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुःख से विकल हूँ। मेरा उपहास न करो।"

"मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।"

"नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।"

"तब तुम्हारा रहस्य क्या है?"

"यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंचकर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता।" मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्न-किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई? उसके हृदय में टीस सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

× × × ×

मधूलिका ने राजा का प्रतिदान, अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ रहती। मधूक के वृक्ष के नीचे एक छोटी सी पर्ण-कुटीर थी। सूखे डण्ठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रम था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता,

वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था। दुबली होने पर भी उसके अङ्ग पर तपस्या की कान्ति थी। आस-पास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श-बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा अकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था, ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुरकर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ाकर सोच रही थी। जीवन से सामञ्जस्य बनाए रखनेवाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं, परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ घटती बढ़ती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—"दो, नहीं-नहीं तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे, प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था?"

वह अपने हृदय से पूछने लगी--उन चाटुकी के शब्दों के सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—"क्या कहा था?" दुःख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण रख सकता और स्मरण ही होता तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता? हाय री विडम्बना!

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी। असहाय दारिद्र्य की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रासाद-माला के वैभव का काल्पनिक-चित्र—उन सूखे डण्ठलों के रन्ध्रों से नीचे नभ में—बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या में जुगुनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है, वैसे ही मधूलिका 'अभी वह, वह निकल गया।' मन ही मन कह रही थी। वर्षा ने भीषण रूप धारण

किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी। ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोंपड़ी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ।

"कौन है यहाँ ? पथिक को आश्रय चाहिए।"

मधूलिका ने डण्ठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—"राजकुमार !"

"मधूलिका !"—आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई—"इतने दिनों के बाद आज फिर ?"

अरुण ने कहा—"कितना समझाया मैंने; परन्तु······"

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—"और आज आपकी यह क्या दशा है ?"

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—"मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।"

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—"मगध के विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका ! यह भी एक विडम्बना है ! तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।"

× × ×

शीतकाल की निःस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देनेवाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था, किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता हो !

मधूलिका ने पूछा—"जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है ?"

"मधूलिका ! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं। भला मैं इन्हें छोड़ देता ? और करता ही क्या ?"

"क्यों ? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते हैं। अब तो तुम......"

"भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नये राज्य की स्थापना कर सकता हूँ। निराश क्यों हो जाऊँ ?" अरुण के शब्दों में कल्पना थी: वह जैसे कुछ कहना चाहता था, पर कह न सकता था।

"नवीन राज्य ! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे ? कोई ढङ्ग बताओ तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।"

"कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के सम्मान में सिंहासन पर बिठाऊँगा ! तुम अपने छिने हुए खेत की चिन्ता करके भयभीत हो।"

एक क्षण में सरला मधूलिका के मन में प्रमाद का अन्धड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा "आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार !"

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबाकर बोला "तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो ?"

युवती का वक्षःस्थल फूल उठा। वह हाँ भी नहीं कह सकी. न भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठा—"तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से

प्राण लगाकर मैं तुम्हें इसी कोशल के सिंहासन पर बिठा दूं। मधूलिका, अरुण के खड्ग का आतङ्क देखोगी ?"

मधूलिका एक बार काँप उठी। वह कहना चाहती थी, नहीं—किन्तु उसके मुँह से निकला—"क्या ?"

"सत्य, मधूलिका, कोशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिन्तित हैं ! यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गये हैं।"

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा "तुम बोलती नहीं हो ?"

"जो कहोगे वही करूँगी।"—मन्त्रमुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

स्वर्ण-मञ्च पर कोशल-नरेश अधलेटे अर्द्ध-निद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किए हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे सञ्चालित हो रहे हैं। ताम्बूल-वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खडी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—"जय हो देव ! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।"

आँख खोलते हुए महाराज ने कहा—"स्त्री ! प्रार्थना करने आई है ? आने दो।"

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसको ओर देखा और कहा—"तुम्हें कहीं देखा है।"

"तीन बरस हुए, देव ! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।"

"ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये ! आज उसका मूल्य मागने आई हो, क्यों ? अच्छा, अच्छा तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी !"

"नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए !"

"मूर्खे ! फिर क्या चाहिए ?"

"उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जङ्गली भूमि। वहीं मैं अपनी खेती करूँगी, मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा; भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।"

महाराज ने कहा—"कृषक-बालिके ! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्त्व रखती है।"

"तो फिर निराश लौट जाऊँ ?"

"सिंहमित्र की कन्या ! मैं क्या करूँ ? तुम्हारी यह प्रार्थना······।"

"देव ! जैसी आज्ञा हो।"

"जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।"

"जय हो देव !" कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राज-मन्दिर के बाहर आई।

× × ×

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर घना जङ्गल है। आज वहाँ मनुष्यों के पद-सञ्चार से शून्यता भङ्ग हो रही थी। अरुण के छिपे हुए मनुष्य स्वतन्त्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को पाटकर पथ बन रहा था। नगर दूर था; फिर

उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा खेत बन रहा था। किसको इसकी चिन्ता थी ?

एक घने कुञ्ज में अरुण और मधूलिका-एक दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। सन्ध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देखकर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अन्तिम किरणें झुरमुट से घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं। अरुण ने कहा—"चार पहर और विश्राम करो और प्रभात में ही इस जीर्ण-कलेवर कोशल राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा। और मगध से निर्वासित मैं, एक स्वतन्त्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा, मधूलिके।"

"भयानक ! अरुण, तुम्हारा साहस देखकर मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम ...."

"रात के तीसरे पहर मेरी विजय-यात्रा होगी, मधूलिके।"

"तो तुमको इस विजय पर विश्वास है ?"

"अवश्य। तुम अपनी झोंपड़ी में यह रात बिताओ; प्रभात से तो राज-मन्दिर लीला-निकेतन बनेगा।"

मधूलिका प्रसन्न थी; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशङ्क थी। वह कभी-कभी उद्विग्न सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई सङ्केत पाकर उसने कहा—"अच्छा, अन्धकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राणपण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्ध-रात्रि तक पूरा कर लेना चाहिए। इसलिए रात्रि भर के लिए बिदा।"

मधूलिका उठ खड़ी हुई । कँटीली झाड़ियों से उलझती हुई, क्रम से बढ़नेवाले अन्धकार में, वह अपनी झोंपड़ी की ओर चली ।

पथ अन्धकार-मय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई । जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी। पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो ? फिर सहसा सोचने लगी, वह क्यों सफल हो ? श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय ? मगध कोशल का चिरशत्रु ! ओह, उसकी विजय ! कोशल-नरेश ने क्या कहा था—"सिंहमित्र की कन्या ।" सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है ? नहीं, नहीं। 'मधूलिका ! मधूलिका !!' उसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई ।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोंपड़ी तक न पहुँची। वह उधेड़-बुन में विक्षिप्त सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्ति अन्धकार में चित्रित हो जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा। वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्रायः एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था, उसके बायें हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त अधीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया, पर मधूलिका अब

भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोककर कहा—"कौन ?" कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़ककर कहा—"तू कौन है स्त्री ? कोशल के सेनापति को शीघ्र उत्तर दे !"

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—"बाँध लो मुझे, बाँध लो ! मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।"

सेनापति हँस पड़े। बोले—"पगली है।"

"पगली ! नहीं, यदि वही होती तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती ? सेनापति ! मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।"

"क्या है ? स्पष्ट कह !"

"श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहार में दस्युओं के हस्तगत हो जायगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।"

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य पूछा—"तू क्या कह रही है ?"

"मैं सत्य कह रही हूँ; शीघ्रता करो।"

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

× × ×

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल-राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्ण गाथाएँ लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्ष्या का कारण है। दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे, जब थोड़े से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके। जब उल्का के आलोक में

उन्होंने सेनापति को पहचाना, तब द्वारा खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—"अग्निसेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे?"

"सेनापति की जय हो! दो सौ।"

"उन्हें शीघ्र एकत्र करो; परन्तु बिना किसी शब्द के। १०० को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।"

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का सङ्केत कर सेनापति राज-मन्दिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वह अपनी सुख-निद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे। किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चञ्चल हो उठे। सेनापति ने कहा—"जय हो देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।"

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा—"सिंहमित्र की कन्या, फिर यहाँ क्यों? क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है? कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो"

"देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रबन्ध किया है। और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह सन्देश दिया है।"

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—"मधूलिका, यह सत्य है?"

"हाँ, देव!"

राजा ने सेनापति से कहा—"सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूँ।" सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—"सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक बार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आततायियों का प्रबन्ध कर लूँ।"

× × ×

अपने साहसिक अभियान में अरुण बन्दी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरञ्जित हो गया। भीड़ ने जयघोष किया। सबके मन में उल्लास था। श्रावस्ती दुर्ग आज एक दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध-नारी आनन्द से उन्मत्त हो उठे।

उषा के आलोक में सभा-मण्डप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुंकार की—"वध करो!" राजा ने सबसे सहमत होकर कहा—"प्राणदण्ड।" मधूलिका बुलाई गई। वह पगली सी आकर खड़ी हो गई। कोशल-नरेश ने पूछा—"मधूलिका, तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग।" वह चुप रही।

राजा ने कहा—"मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ।"

मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—"मुझे कुछ न चाहिए।" अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा—"नहीं, मैं तुझे अवश्य दूंगा; माँग ले।"

"तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले।" कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

## अभ्यास के लिए

(१) मधूलिका कहानी का साराश लिखिए।
(२) मधूलिका का चरित्र-चित्रण कीजिए।
(३) अरुण के चरित्र पर प्रकाश डालिए।
(४) इस कहानी से आपको क्या शिक्षा मिलती है ?
(५) जयशकर 'प्रसाद' पर एक परिचयात्मक लेख लिखिए।

---

# १८— राष्ट्रमाता की एक झलक

श्रीमती सत्यवती मलिक

श्रीमती सत्यवती मलिक आधुनिक महिला लेखिकाओ मे सुप्रसिद्ध है। इनकी लिखी कहानियाँ एव रेखा-चित्र बहुत सुन्दर होते है।

प्रस्तुत लेख आपके 'अमिट रेखाएँ' नामक सुन्दर सग्रह से लिया गया है।

कन्याओं के लिए एक उपयोगी संग्रह तैयार करने की इच्छा बहुत दिनों से मेरे मन में थी। गांधीजी की पूज्या जननी का स्कैच उसमें अवश्य होना चाहिए, इसी सम्बन्ध में मैं बा से मिलने दोपहर को हरिजन-बस्ती गई। उसी दिन प्रातः प्रार्थना में भी सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था—प्रातः ४ बजे जाड़े के दिनों में पैंसठ वर्षीया नारी को नंगे पैर, हाथों में लैंप लिये आश्रम में जिस स्फूर्ति से घूमते देखा—मध्याह्न पाँच बजे तक भी उसी उत्साह से इधर-उधर, ऊपर-नीचे काम-काज में व्यस्त देख मेरे आश्चर्य की सीमा न थी। उनकी पुत्रवधू

श्रीमती देवदास गांधी द्वारा जब मैंने अपना अभिप्राय बताया तो बोलीं—"भई! पहले तो मुझे बापू को जिमाना है।" मुझे अकस्मात् हँसी आ गई, मानो बापू उनके बच्चे हों, खाना खिलाना, घी, तेल मलना,—ज्ञात हुआ "आज बापू का जन्मोत्सव है।" बापू बा के हाथों ही खायेंगे—और बा उन्हें खिलाकर ही उपवास तोड़ेंगी।

"उसने बहुत कुछ लिख दिया है! मैं और क्या कहूँ! अच्छा चलो! कुछ जलपान कर लो।"

घंटा भर प्रतीक्षा करने के बाद "खा पी लो, जलपान कर लो;" यही उत्तर पा मैंने झुँझलाकर यह निष्कर्ष निकाला कि बा पुराने ढंग की भोली-भाली अति साधारण स्त्री हैं, जिन्हें निजी व्यक्तित्व एवं अपना वक्तव्य कहने-सुनने के लिए, खिलाने, पिलाने, घर के काम-काज आदि से तनिक भी फुर्सत नहीं।

× ×

तो भी उस अत्यन्त साधारण नारी के मृदु व्यवहार के प्रति आकर्षण बढ़ता ही गया। दो-एक वर्ष बाद पुनः जब वे यहीं कनाट सरकस ही में अपने कनिष्ठ पुत्र श्री देवदास गांधी के यहाँ ठहरीं तो मिलने गई।

स्वस्थ थीं; पर खाली तब भी न बैठी थीं। मैंने अपना कहानी-संग्रह "दो फूल" उनका नाम लिखकर भेंट किया, तो विशेष प्रसन्न हुईं। अपने दोनों नातियों को बुलाकर परिचय कराया—तब उपयुक्त अवसर जान मैंने उनके प्रारम्भिक जीवन तथा उनकी स्वर्गीया सास के विषय में बातचीत शुरू की। स्मृति-स्वरूप ऐसी कितनी लज्जास्मित रेखाएँ उस वृद्ध चेहरे पर दौड़ गईं जो कभी भूल न सकूँगी।

बहुती सी बातें चर्खा कातते-कातते वे सुनाती रहीं, जिनकी मधुरता में मैं उन्हें लिपिबद्ध करना ही भूल गई। ऐसे अपनत्व में जान ही न पड़ा कि मैं कार्य्य-विशेष अथवा किसी गरज से आई हूँ—थीं भी कितनी साधारण घरेलू बातें।

× × ×

अकस्मात् गाड़ी में कहीं जाते-जाते समाचार-पत्र द्वारा सूचना मिली "बा इस संसार में नहीं हैं।" एकाएक आत्मकथा के कितने ही पन्ने आँखों में पलटते गये—

बा—"जब मुझे विवाह का स्मरण हो आता है, तो अपने पर दया आने लगती है। तेरह वर्ष की उमर में हमारा विवाह हुआ और उन बच्चों को बधाई देने की इच्छा होती है कि वे मेरी दुर्गत से अब तक बचे हुए हैं।"

"मैं एक बुरे आदमी की सोहबत में पड़ गया। पत्नी की चेतावनी पर तो मैं अभिमानी पति क्यों ध्यान देने लगा था ·· फिर मैं बड़ा डरपोक था। रात को अकेला जाने की हिम्मत न होती थी और पत्नी के सामने जो अब कुछ युवती हो चली थीं—भय की बातें करते संकोच होता था। क्योंकि मैं इतना जान चुका था कि वह मुझसे अधिक हिम्मतवाली हैं········ उसे साँप वगैरह का भय तो छू भी न गया था··· अँधेरे में अकेली चली जातीं।"

"मैं जैसा प्रेमी पति था वैसा वहमी पति भी। इस बुरे मित्र की बातें मानकर मैंने अपनी धर्मपत्नी को कई बार दुख में डाला है। इस हिंसा के लिए मैंने कभी अपने को माफ नहीं किया। हिन्दू स्त्री ही ऐसे दुखों को सहन कर सकती होगी और इसलिए मैंने स्त्री को सदा सहनशीलता की मूर्ति माना है। नौकर-चाकर पर यदि झूठा वहम आने लगे तब तो वे नौकरी छोड़कर चले जाते हैं। पुत्र पर ऐसी बीते तो वह बाप का घर

छोड़कर चला जाता है। मित्रों में वहम पड़ जाय तो मित्रता टूट जाती है। पत्नी को यदि पति पर शक हो तो बेचारी मन मसोसकर रह जाती है। पर यदि पति के मन में पत्नी के लिए सन्देह हो, तो बेचारी का भोग भोगे ही छुटकारा! वह कहाँ जाय? उच्च वर्ण की हिन्दू स्त्री अदालत में जाकर तलाक भी नहीं दे सकती। ऐसा एकपक्षी न्याय उसके लिए रखा गया है। यही न्याय मैं उसके साथ करता। इस दुख को मैं कभी भूल नहीं सकता।

"जोहान्सबर्ग में मेरा एक कारकुन ईसाई था। उसके माँ-बाप पंचम जाति के थे। कमरों में हमारे घर में पेशाब के लिए एक अलग बर्तन होता था। उसे साफ करने का काम हम दोनों का था, नौकरों का नहीं। और बर्तन तो कस्तूर बाई उठाकर साफ कर देतीं; लेकिन इन भाई का बर्तन उठाना उसे असह्य मालूम हुआ। इससे हम दोनों की आपस में खूब चली। यदि मैं उठाता हूँ तो उसे अच्छा नहीं मालूम होता। और खुद उसके लिए उठाना कठिन था—फिर भी आँखों से मोती की बूँदें टपक रही हैं। एक हाथ में बर्तन है और अपनी लाल लाल आँखों से उलाहना देती हुई कस्तूर बाई सीढ़ियों से उतर रही हैं। यह चित्र मैं आज भी ज्यों का त्यों खींच सकता हूँ। परन्तु मैं जैसा सहृदय और प्रेमी पति था वैसा ही निठुर और कठोर भी। मैं अपने को उसका शिक्षक मानता था। इससे अपने अन्ध प्रेम के अधीन हो मैं उसे खूब सताता था। इस कारण महज उसके बर्तन उठा ले जाने भर से सन्तोष न हुआ। मैंने चाहा कि वह उसे हँसते हुए ले जाय। और उसके लिए मैंने उसे डाँटा-डपटा भी। उत्तेजित होकर कहा—'देखो, यह बखेड़ा मेरे घर में न चल सकेगा।'

"मेरा यह बोल कस्तूर बाई को तीर की तरह लगा—धध-

कते हुए दिल से उसने कहा—"तो लो रखो यह अपना घर। मैं चली!"

"उस समय मैं ईश्वर को भूल गया था। दया लेशमात्र मेरे हृदय में न रह गई थी। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ी के सामने ही बाहर निकलने का दरवाजा था। मैं उस दीन अबला का हाथ पकड़कर दरवाजे तक खींचकर ले गया। दरवाजा आधा खोला गया कि आँखों में गंगा-जमुना बहाती हुई कस्तूर बाई बोलीं—

"तुम्हें तो कुछ शरम है ही नहीं, पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मैं बाहर निकलकर आखिर जाऊँ कहाँ? माँ-बाप भी यहाँ नहीं कि उनके पास चली जाऊँ। मैं ठहरी स्त्री। इसलिए मुझे तुम्हारी धौंस सहनी पड़ेगी। अब जरा शरम करो और दरवाजा बन्द कर लो। कोई देख लेगा तो दोनों की फजीहत होगी।"

"मैंने अपना चेहरा तो सुर्ख बनाये रखा, पर मन में शरमा गया। दरवाजा बन्द कर दिया—जब कि पत्नी मुझे छोड़कर नहीं जा सकती थी तब मैं भी उसे छोड़कर कहाँ जा सकता था? इस तरह हमारे आपस में लड़ाई-झगड़े कई बार हुए हैं। परन्तु उनका परिणाम सदा ही अच्छा निकला है। उसमें पत्नी ने अपनी अद्भुत सहनशीलता के द्वारा विजय प्राप्त की है।

"आज मैं तब की तरह मोहान्ध पति नहीं हूँ, न उसका शिक्षक ही हूँ। हम आज एक दूसरे के भुक्त-भोगी मित्र हैं। एक दूसरे के प्रति निर्विकार रहकर जीवन बिता रहे हैं। कस्तूर बाई आज ऐसी सेविका बन गई हैं, जो बीमारियों में बिना प्रतिफल की इच्छा किये सेवा-शुश्रूषा करती हैं। मेरे पीछे-पीछे चलने में उसने अपने जीवन की सार्थकता मानी है—और स्वच्छ जीवन बिताने के मेरे प्रयत्नों में उसने कभी बाधा

नहीं डाली। इस कारण यद्यपि हम दोनों की बुद्धि और शक्ति में बहुत अन्तर है, तो भी मेरा ख्याल है कि हमारा जीवन सन्तोषी, सुखी और ऊर्ध्वगामी है।

"१८९६ में जब मैं देश आया था, तब भी भेंटें मिली थीं। पर इस बार की भेंटों में सोने-चाँदी की चीजों के अतिरिक्त हीरे की चीजें भी थीं। एक पचास गिन्नी का हार कस्तूर बाई के लिए था; मगर उसे जो चीज मिली थी, वह भी तो मेरी ही सेवा के फलस्वरूप। अतएव मैं लोक-सेवा के उपलक्ष्य में दी गई चीजें (चाहे वे मुवक्कलों से हों) कैसे मंजूर कर सकता था ?

"जिस शाम को यह उपहार मिले, वह रात मैंने पागल की तरह जागकर काटी। न लेना भारी पड़ रहा था; पर लेना उससे भी भारी मालूम होता था। क्योंकि मेरे बच्चों और पत्नी को तालीम तो सेवा की मिल रही थी—'सेवा का दाम नहीं लिया जा सकता'—यह हमेशा सिखाया जाता था। सादगी बढ़ती जाती थी—घर में कीमती जेवर, हीरे की अँगूठियाँ कौन पहनेगा ?

"अन्त में इस निर्णय पर पहुँचा कि ये चीजें मैं हरगिज नहीं रख सकता। मैं जानता था कि धर्मपत्नी को समझाना कठिन पड़ेगा, पर विश्वास था कि बालकों को समझाने में जरा दिक्कत न पेश आयेगी, अतएव उन्हें वकील बनाने का विचार किया। बच्चे तुरन्त समझ गये और बोले, हमें इन गहनों से कुछ मतलब नहीं, चीजें लौटा देनी चाहिए। मैं प्रसन्न हुआ—'तो तुम बा को समझाओगे न ?

'जरूर, वह कहाँ इन गहनों को पहनने चली हैं।' परन्तु काम अन्दाज से ज्यादा मुश्किल साबित हुआ।

'तुम्हें चाहे जरूरत न हो और लड़कों को भी न हो; बच्चों का क्या ? जैसा समझा दें, समझ जाते हैं। मुझे न पहनने दो,

पर मेरी बहुओं को जरूरत न होगी ? जो चीजें इतने प्रेम से लोगों ने दी हैं उन्हें वापस लौटाना ठीक नहीं।'—इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई, और उसके साथ अश्रुधारा भी आ मिली। लड़के दृढ़ रहे और भला मैं क्यों डिगने लगा।

मैंने धीरे से कहा—'पहले लड़कों की शादी तो होने दो। हम बचपन में तो इनके विवाह करना चाहते ही नहीं हैं। बड़े होने पर जो इनका जी चाहे सो करें। फिर हमें गहने-कपड़ों की शौकीन बहुएँ खोजनी हैं? फिर भी अगर कुछ बनवाना होगा तो मैं कहाँ चला गया हूँ ?'

'हाँ, जानती हूँ तुमको! वही न हो जिन्होंने मेरे भी गहने उतार लिये हैं! जब मुझे ही नहीं पहनने देते, तो मेरी बहुओं को जरूर ला दोगे। लड़कों को तो अभी से वैरागी बना रहे हो! पर इन गहनों को मैं वापस नहीं होने दूँगी! और फिर हार पर तुम्हारा क्या हक ?'

'यह हार तुम्हारी सेवा की खातिर मिला है या मेरी ?'

'जैसा भी हो। तुम्हारी सेवा में क्या मेरी सेवा नहीं है ? मुझसे जो रात-दिन मजूरी कराते हो, क्या वह सेवा नहीं है ? मुझे रुला-रुलाकर जो ऐरे-गैरों को घरों में रखा और मुझसे सेवा-टहल कराई, वह कुछ भी नहीं ?'

"ये सब बाण तीखे थे—कितने ही चुभ रहे थे, पर गहने लौटाने का निश्चय ही कर चुका था। अन्त को बहुतेरी बातों में जैसे-तैसे सम्मति प्राप्त कर सका।

"किन्तु अगले दस वर्षों की कठोरताओं ने युवती बा के जीवन को कुछ और ही बना दिया। उनके हठधर्मी पति का अवतरण केवल मानव-समाज के कल्याण के हेतु हुआ है, यह उसने पहचान लिया और नारी-सुलभ सभी स्वाभाविक आकांक्षाओं की आहुति दे दी।

"१९१२ में एक ऐसा मामला अदालत में आया जिसमें न्यायाधीश ने यह फैसला दिया कि दक्षिण अफ्रीका के कानून में उसी विवाह के लिए स्थान है, जो ईसाई धर्म के अनुसार होता है अर्थात् जो विवाह अधिकारी के रजिस्टर में दर्ज कर लिया जाता है, उसके सिवा और किसी विवाह के लिए उसमें स्थान नहीं। इस भयङ्कर फैसले के अनुसार हिन्दू, मुस्लिम, पारसी, सभी विवाह रद्द करार दे दिये गये, और उसकी मन्शा के अनुसार दक्षिण अफ्रीका में विवाहित कितनी ही भारतीय स्त्रियों का दरजा धर्मपत्नी का न रहा। वे सरासर रखेलियाँ समझी जाने लगीं। स्त्रियों का ऐसा अपमान होने पर धीरज धारण कैसे किया जा सकता था? स्त्रियों को सत्याग्रह में शामिल होने से हम कैसे रोक सकते थे? सभी तो जेल जाने को तैयार थीं। किन्तु अपनी पत्नी को इस विषय में नहीं कहना चाहता था; क्योंकि ऐसे जोखिम के समय सभी अपने आप जो काम करें, उसी को मंजूर कर लेना हितकर होता है। किन्तु पत्नी ने कहीं न कहीं यह सब सुन लिया, बोली—

'दुःख है कि आप मुझसे इस विषय में बातचीत क्यों नहीं करते। मुझमें कौन सी खामी है जो मैं जेल न जा सकूँगी? मैं भी उसी पथ पर चलना चाहती हूँ जिसके लिए आप इन बहनों को सलाह दे रहे हैं।'

'पर, अगर अदालत में खड़ी रहते समय तुमहारे हाथ-पाँव काँपने लगें, हिम्मत हार जाओ, जेल के कष्ट बरदाश्त न कर सको तो मेरा क्या हाल होगा? संसार में हम ऊँचा सिर करके कैसे खड़े रह सकेंगे?'

'यदि मैं हिम्मत हारकर छूट जाऊँ तो आप मुझे अंगीकार मत कीजिएगा। आप यह कल्पना भी कैसे कर सकते हैं कि आप और बच्चे तो उन कष्टों को सह सकते हैं—अकेली मैं ही

उन्हें नहीं सह सकूँगी। मुझे तो आपको इस युद्ध में शामिल करना ही पड़ेगा।"

'तुम मेरी शर्त भी जानती हो। स्वभाव से भी परिचित हो। अब भी विचार करना हो तो कर लो।'

'मुझे कुछ सोचना-विचारना नहीं है। मैं अपने निश्चय पर दृढ़ हूँ।'

"और वास्तव में स्त्रियों की बहादुरी का वर्णन करना कठिन है। नेटाल की राजधानी मैरित्सवर्ग की जेल में वे रखी गईं, उन्हें खूब कष्ट दिये गये, खान-पान की जरा भी चिन्ता नहीं की जाती थी। काम उन्हें धोबी का दिया गया। बाहर से खाना मँगाने की सख्त मनाही थी। कस्तूर-बा को बीमार होने के कारण जेतून का तेल आदि खास तरह का भोजन मिलना चाहिए था। किन्तु अधिकारियों का उत्तर था—"यह होटल नहीं। जो मिलेगा वही खाना पड़ेगा।" इसी से वह जब जेल से छूटीं तो बदन में हड्डियाँ भर रह गई थीं और बड़ी मुश्किल से बचीं।

"पुनः स्वदेश लौट आने पर जिस प्रकार उन्होंने बार-बार अपने को अर्पण किया; जीवन के कटु अनुभवों ने उन्हें ढालकर जिस ऊँचे मानसिक स्तर पर पहुँचा दिया; बिना एक शब्द भी किसी से प्रोत्साहन अथवा मुस्कराहट के निरन्तर युद्ध में वे जूझती रहीं। सत्याग्रह आश्रम साबरमती या फिनिक्स, डरबन या सेगाँव आश्रम संस्थाओं का परिपूर्ण सञ्चालन और आतिथ्य करनेवाली, तिस पर भी अनेक अग्नि-परीक्षाएँ।"

सहसा जी काँप उठा। उस साधारण नारी के कठोर साधना में बीते लम्बे, असाधारण जीवन की ओर दौड़ती हुई मेरी आँखें सजल हो उठीं। हृदय से अनायास निकल पड़ा—

बा की तुलना, महलों में वियोग के आँसू बहानेवाली यशोधरा एवं उर्मिला से नहीं, अपितु चिरसंगिनी सीता अथवा प्राणदात्री सावित्री से ही हो सकती है। शरत्-चाँदनी की तरह उज्ज्वल, जाह्नवी की पुण्य धारा सी निर्मल—युगान्तर से अपने अस्तित्व को मिटाकर, पुरुष को गौरव प्रदान करती हुई, भारतीय नारी का श्रेष्ठ स्वरूप, जिसके दोनों महिमामय हाथ पलना झुलाते, पलकें प्रतीक्षा में और प्राण छाया की भाँति साथ-साथ चलते हैं।

## अभ्यास के लिए

(१) 'राष्ट्रमाता' का क्या अर्थ है? श्रीमती कस्तूर बा के लिए इसका प्रयोग क्यों हुआ है?

(२) कस्तूर बा के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालिए।

(३) कस्तूर बा के जीवन से कौन-सी शिक्षा प्राप्त होती है?

(४) कस्तूर बा तथा सीता के चरित्रों की तुलना कीजिए।

---

# १६—काश्मीर-यात्रा

श्रीमती महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा के नाम से प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी सुपरिचित है। आप रहस्यवादी कवियों में प्रमुख स्थान रखती हैं और एक उत्कृष्ट कलाकार एवं सुलेखिका भी हैं।

आपका जन्म एक प्रसिद्ध कायस्थ-वंश में संवत् १९६८ में फर्रुखाबाद में हुआ था। प्रयाग विश्वविद्यालय से आपने एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की है। आजकल आप प्रयाग-महिला-विद्यापीठ की प्रधानाध्यापिका हैं।

'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' तथा 'सान्ध्य गीत' आपके चार कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके है। इन चारो पुस्तको मे से सुन्दर कविताए चयन करके 'यामा' नामक एक सकलन भी प्रकाशित किया गया है, जिसम इनके बनाये हुए सुन्दर चित्रो का भी समावेश है। 'दीपशिखा' नामक इनका एक और सुसज्जित उत्तम काव्य-सग्रह है। कई वर्ष तक आपने प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'चाँद' का सम्पादन बडी योग्यता के साथ किया है।

इधर आपने गद्य के क्षेत्र मे भी इसी प्रतिभा के साथ प्रवेश किया है, और कुछ यात्राओ का वर्णन बडे ही अनोखे एव रोचक ढग से लिखा है। 'अतीत के चलचित्र' तथा 'श्रृ खला की कड़ियाँ' इनकी सुन्दर गद्य-पुस्तके है। आपका गद्य तत्सम-सस्कृत-गर्भित तथा प्राजल होता है। इनके भावाभिव्यञ्जन की शैली आलकारिक व व्यञ्जनापूर्ण है। थोडे से नपे-तुले शब्दो मे रेखा-चित्र प्रस्तुत करने की आपमे अपूर्व क्षमता है। करुणा-व्यग-मिश्रित आपका शिष्ट हास एव कल्पना आपके व्यक्तित्व को सुस्पष्ट कर देते है। आपकी भावुकता तथा विदग्धता से आपका गद्य साहित्य पूर्णतया प्रभावित है और आपकी वेदनामयी अनुभूति ने आपके वाक्यो मे काव्य की सरसता भर दी है।

**उस सरल कुटिल मार्ग के दोनों ओर, अपने कर्त्तव्य की गुरुता से निःस्तब्ध प्रहरी जैसे खड़े हुए, आकाश में धरातल के समान मार्ग बना देनेवाले सफेदे के वृक्षों की पंक्ति से उत्पन्न दिग्भ्रान्ति जब कुछ कम हुई तब हम एक दूसरे ही लोक में पहुँच चुके थे, जो उस व्यक्ति के समान परिचित और अपरिचित दोनों ही लग रहा था, जिसे कहीं देखना तो स्मरण आ जाता है, परन्तु नाम-धाम नहीं याद आता।**

**उस सजीव सौन्दर्य में एक अद्भुत निःस्पन्दता थी जो उसे नित्य दर्शन से साधारण लगनेवाले सौन्दर्य से भिन्न किये दे रही थी।**

चारों ओर से नीलाकाश को खींचकर पृथ्वी से मिलाता हुआ क्षितिज, रुपहले पर्वतों से घिरा रहने के कारण, बादलों से बने घेरे जैसा जान पड़ता था। वे पर्वत अविरल और निरन्तर होने पर भी इतनी दूर थे कि धूप में जगमगाती असंख्य चाँदी-सी रेखाओं के समूह के अतिरिक्त उनमें कोई पर्वत का लक्षण दिखाई न देता था। जान पड़ता था, किसी चित्रकार ने अपने आलस्य के क्षणों में रुपहले रङ्ग में तूलिका डुबाकर नीले धरातल पर इधर-उधर फेर दी है।

जहाँ तक दृष्टि जाती थी, पृथ्वी अश्रुमुखी ही दिखाई पड़ती थी। जल की इतनी अधिकता हमारे यहाँ वर्षा के अतिरिक्त कभी देखने में नहीं आती; परन्तु उस समय के धरातल और यहाँ के धरातल में उतना ही अन्तर है जितना धुले हुए सजल मुख और आँसू भरी आँखों में। मार्ग इतना सूखा था कि धूल उड़ रही थी; परन्तु उसके दोनों किनारे सजल थे, जिनमें कहीं-कहीं कमल की आकृतिवाले छोटे फूल कुछ मीलित और कुछ अर्धमीलित दशा में झूल रहे थे।

रावलपिंडी से २०० मील मोटर में चलने से शरीर अवसन्न ही हो रहा था, उस पर चारों ओर बिखरी हुई अभिनव सुषमा और सङ्गीत के आरोह-अवरोह की तरह चढ़ाव-उतारवाले समीर की सरसर ने मन को भी ऐसा विमूर्च्छित-सा कर दिया कि श्रीनगर में बदरिकाश्रम पहुँचकर बड़ी कठिनता से सत्य और स्वप्न में अन्तर जान पड़ा। वह आश्रम, जहाँ हाउसबोट में जाने तक हमारे ठहरने का प्रबन्ध था, सहज ही किसी 'जू' का स्मरण करा देता था; कारण वहाँ अनेक प्रांतों के प्रतिनिधि अपनी-अपनी विशेषताओं के प्रदर्शन में दत्तचित थे। कहीं कोई पञ्जाबी युवती अपने वीरवेश में गर्व से मस्तक उन्नत किए देखनेवालों को चुनौती-सी देती

घूम रही थी, कहीं उत्तर प्रदेश की कोई प्राचीना घूँघट निकाले इस प्रकार सङ्कोच और भय से सिमटी हुई खड़ी थी, मानो सब उसी के लज्जारूपी कोष पर आक्रमण करने पर तुले हुए हैं और वह उसे छिपाने के लिए पृथ्वी से स्थान माँग रही है, कहीं कोई महाराष्ट्र सज्जन शिखा का गुरुभार सिर पर धारण किए जलाने की लकड़ियों को धोते हुए दूसरे के कौतूहल का कारण बन रहे थे और कहीं कोई धर्म-दिग्गज धर्म-पालन और उदर-पूर्ति में कौन श्रेष्ठ है, इस समस्या के समाधान में तत्पर थे। प्रकृति की चञ्चलता की कमी की पूर्ति मनुष्य में हो रही थी।

अधिकारियों ने हमारे कमरे, नौकर आदि की जैसी सुव्यवस्था थोड़े समय में कर दी वह सराहने योग्य थी; परन्तु वहाँ के वास्तविक जीवन का परिचय तो हमें अपने हाउसबोट में जाकर ही मिल सका। नीले अकाश की छाया से नीलाभ झेलम के जल में वे रङ्गीन जलयान वर्षा से धुले आकाश में इन्द्रधनुष की स्मृति दिलाते रहते थे।

जिसने इस प्रकार तरङ्गों के स्पन्दित हृदय पर अछोर अन्तरिक्ष के नीचे, रहने का इतना सुन्दर साधन ढूँढ़ निकाला, उसके पास अवश्य ही बड़ा कवित्वमय हृदय रहा होगा। जीना सब जानते हैं और सौन्दर्य से भी सबका परिचय रहता है: परन्तु सौन्दर्य में जीना किसी कलाकार का ही काम है।

हमारे पानी पर बने हुए घर में एक सुन्दर सजी हुई बैठक, सब सुख के साधनों से युक्त दो शयनगृह, एक भोजनालय और दो स्नानागार थे। भोजन दूसरे बोट में बनता था, जिसके आधे भाग में हमारा माँझी सुलताना सपत्नीक—चीनी की पुतली-सी कन्या नूरी और पुत्र महमूद के साथ—अपना छोटा-सा संसार बसाये हुए था। साथ ही एक तितली जैसा शिकारा भी था

जिसे पान की आकृतिवाली छोटी-सी पतवार से चलाकर छोटा महमूद दोनों कूलों को एक करता रहता था।

हम रात को लहरों में झूलते हुए खुली छत पर बैठकर तट के एक-एक दीपक को अनेक बनते हुए तब तक देखते ही रह जाते थे जब तक नींद-भरी पलकें बन्द होने के लिए सत्याग्रह न करने लगती थीं और फिर सबेरे तब तक कोई काम न हो पाता था जब तक जल में सफेद बादलों की काली छाया अरुण होकर फिर सुनहरी न हो उठती थी। उस फूलों के देश पर रुपहले-सुनहले रात-दिन बारी-बारी से पहरा देने आते जान पड़ते थे। वहाँ के असंख्य फूलों में मुझे दो जङ्गली फूल 'मजारपोश' और 'लालापोश' बहुत ही प्रिय लगे।

मजारपोश अधिक से अधिक संख्या में समाधि पर फूल-कर, अपनी नीली अधखुली पंखड़ियों से, अस्थिपञ्जर को ढके हुई धूलि को नंदन बना देता है और लालापोश हरे लहलहाते खेतों में अपने आप उत्पन्न होकर, अपने गहरे लाल रंग के कारण, हरित धरातल पर जड़े पद्मराग की स्मृति दिला जाता है। फूलों के अतिरिक्त उस स्वर्ग के बालक भी स्मरण की वस्तु रहेंगे। उनकी मजारपोश जैसी आँखें, लालापोश जैसे होंठ, हिम जैसा वर्ण और धूलि जैसा मलिन वस्त्र उन्हें ठीक प्रकृति का एक अङ्ग बनाए रखते हैं। अपनी सारी मलि-नता में कैसे प्रिय लगते हैं वे! मार्ग में चलते न जाने किस कोने से कोई भोला बालक निकल आता और 'सलाम जनाब पासा' कहकर विश्वास भरी आँखों से हमारी ओर देखने लगता। उसकी गम्भीरता देखकर यही प्रतीत होता था कि उसने सलाम करके अपने गुरुतम कर्त्तव्य का पालन कर दिया है, अब उसे सुननेवाले के कर्त्तव्य-पालन की प्रतीक्षा है। शीत ने इन मोम के पुतलों को अङ्गारों में पाला है और दरिद्रता

ने पाषाणों में । प्रायः सबेरे कुछ सुन्दर-सुन्दर बालक नंगे पैर पानी में करम का साग लाने दौड़ते दिखाई देते थे और कुछ अपना शिकारा लिये, 'सलाम जनाब, पार पहुँचाएगा' पुकारते हुए। ऐसे ही कम अवस्थावाले बालकों को कारखानों में शाल आदि पर गम्भीर भाव से सुन्दर बेलबूटे बनाते देखकर हमें आश्चर्य हुआ।

काश्मीरी स्त्रियाँ भी बालकों के समान ही सरल जान पड़ीं। उनके मुख पर न जाने कैसी हँसी थी, जो क्षण भर में आँखों में झलक जाती थी और क्षण भर में होंठों में। वे एड़ी चूमता हुआ कुर्त्ता और उसके नीचे पायजामा पहनकर एक छोटी-सी ओढ़नी को कभी-कभी बीच से तह करके, तिकोना बनाकर, कभी-कभी वैसे ही सिर पर डाले रहती हैं। प्रायः मुसलमान स्त्रियाँ ओढ़नी के नीचे मोती लगी या सादी टोपी लगाये रहती हैं जो सुन्दर लगती है।

प्रकृति ने इन्हें इतना भव्य रूप दिया, परन्तु निष्ठुर भाग्य ने दियासलाई के डिब्बे जैसे छोटे मलिन अभव्य घरों में प्रतिष्ठित कर और एक मलिन वस्त्रमात्र देकर इनके सौन्दर्य्य का उपहास कर डाला और हृदयहीन विदेशियों ने अपने ऐश्वर्य्य की चकाचौंध से इनके अमूल्य जीवन को मोल लेकर मूल्य-रहित बना दिया। प्रायः इतर श्रेणी की स्त्रियाँ मुझे कागज में लपेटी कलियों की तरह मुर्झाई मुस्कराहट से युक्त जान पड़ीं। छोटी-छोटी बालिकाओं की मन्द स्मित में याचना, प्रौढ़ाओं की फीकी हँसी में विवशता और वृद्धाओं की सरल चितवन में असफल वात्सल्य झाँकता रहता था।

इसके अतिरिक्त सफेद दुग्धफेनिल दाढ़ीवाले, आँखों में पुरातन चश्मा चढ़ाये, पतली उँगलियों में सुई दबाकर कला को वस्त्रों में प्रत्यक्ष करते हुए शिल्पकार भी मुझे तपस्वियों

जैसे ही भव्य लगे। इस सुन्दर हिमराशि में समाधिस्थ पर्वत के हृदय में इतनी कला कैसे पहुँचकर जीवित रह सकी, यह आश्चर्य का विषय है। कोई काष्ठ जैसी नीरस वस्तु को सुन्दर आकृति देकर सरस बना रहा था, कोई कागज कूटकर बनाई हुई वस्तुओं पर तूलिका से रङ्ग भर-भरकर उसमें प्राण का सञ्चार कर रहा था और कोई रङ्ग-बिरङ्गे ऊन या रेशम से सूती और ऊनी वस्त्रों को चित्रमय जगत् किए दे रहा था। सरांश यह कि कोई किसी वस्तु को भी वैसा नहीं रहने देना चाहता था जैसा ईश्वर ने बनाया है।

काश्मीर के सौन्दर्य्य-कोष में सबसे मूल्यवान् मणि वहाँ शालामार और निशात बाग माने जाते हैं और वास्तव में सम्राज्ञी नूरजहाँ और सम्राट् जहाँगीर की स्मृति से युक्त होने के कारण वे हैं भी इसी योग्य। शालामार में बैठकर तो अनायास ही ध्यान आ जाता है कि यह उसी सौन्दर्य्य-प्रतिमा का प्रमोदवन रह चुका है जिसे सिहासन तक पहुँचाने के लिए उसके अधिकारी को स्वयं अपने जीवन की सीढ़ी बनानी पड़ी और जब वह उस तक पहुँच गई तब उसकी गुरुता से संसार काँप उठा। यदि वे उन्नत, सघन और चारों ओर वरद हाथों की तरह शाखाएँ फैलाये हुए चिनार के वृक्ष बोल सकते, यदि आकाश तक अपने सजल उच्छ्वासों को पहुँचानेवाले फौवारे बता सकते, तो न जाने कौन-सी करुण मधुर कहानी सुनने को मिलती।

जिन रजकणों पर कभी रूपसियों के रागरञ्जित सुकोमल चरणों का न्यास भी धीरे-धीरे होता था, उन पर जब यात्रियों के भारी जूतों के शब्द से युक्त कठोर पैर पड़ते थे, तब लगता था कि वे पीड़ा से कराह उठेंगे।

किंवदन्ती है कि पहले शालामार का निर्माण और नामकरण श्रीनगर बसानेवाले द्वितीय प्रवरसेन द्वारा हुआ था, फिर उसी के भग्नावशेष पर जहाँगीर ने अपने प्रमोद-उद्यान की नींव डाली। अब तो उसके अनन्त प्रतीक्षा में जीर्ण, वृक्षों की पंक्ति में, किसी परिचित पदध्वनि को सुनने के लिए निःस्तब्ध पल्लवों में, ऊपर क्षणिक वितान बना देनेवाले फौवारों के सीकरों में और भङ्गिमामय प्रपातों में पारस्य देश की कला की अमिट छाप है। हमारे अजस्र प्रवाहिनी सरिताओं से निरन्तर सिक्त देश ने जल को इतने बन्धनों में बाँधकर नर्तकी के समान लास सिखाने की आवश्यकता नहीं समझी थी; परन्तु मुसलमान शासकों के प्रभाव से इसने हमारे सजीव चित्र-से उपवनों को सजल भी बना दिया। जिस समय सारे फौवारे सहस्रों जल-रेखाओं में विभाजित हो-होकर आकाश में उड़ जाने की विफल चेष्टा में अपने तरल हृदय को खण्ड-खण्ड कर पृथ्वी पर लौट आते हैं, सूखे प्रपातों से अश्रुपात होने लगता है, उस समय पानी के बीच में बनी हुई राजसी काले पत्थर की चौकी पर किसी अनन्त अभाव की छाया पड़कर उसे और भी अधिक कालिमामय कर देती है।

डल झील की दूसरी ओर सौन्दर्यमयी नूरजहाँ के भाई आसफअली का पहाड़ के हृदय से चरण तक विस्तृत निशात बाग है, जिसकी क्रमबद्ध ऊँचाई के अनुसार निर्मित १२ चबूतरों के बीच से अनेक प्रकार से खोदी हुई शिलाओं पर से झरते हुए प्रपात अपना उपमान नहीं रखते। इसकी सजलता में शालामार की सी प्यास छिपी नहीं जान पड़ती, वरन् एक प्रकार का निर्वेद मनुष्य को तन्मय सा कर देता है। मनुष्य ने यहाँ प्रकृति की कला में अपनी कला इस प्रकार मिला दी है कि एक के अन्त और दूसरी के आरम्भ

के बीच में रेखा खींचना कठिन है, अतः हमें प्रत्येक क्षण एक का अनुभव और दूसरे का स्मरण होता रहता है। इसके विपरीत अन्तःपुर की सजीव प्रतिमाओं के लिए इन प्रतिमाओं के आराधक और आराध्य बादशाह के लिए तथा इनके कौतुक से विस्मत सर्वसाधारण के लिए तीन भागों में विभक्त शालामार के पत्ते-पत्ते में मनुष्य की युगों से प्यासी लालसाओं की अस्पष्ट छाया मदिरा की अतृप्त मादकता लिये घूमती-सी ज्ञात होती है, परन्तु दोनों ही अपूर्व हैं, इसमें सन्देह नहीं।

## अभ्यास के लिए

(१) रावलपिण्डी से श्रीनगर जाते समय मार्ग में कौन-कौन से दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं?

(२) हाउस बोट में रहनेवालों के अनुभवों को अंकित कीजिए।

(३) काश्मीर-निवासी बालक, स्त्री और पुरुष कौन-कौन सा काम किया करते हैं?

(४) लेखिका ने उनके जीवन की किस विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित किया है?

---

# २०—परिश्रान्त पथिक

श्री वियोगी हरि

साहित्य-वाचस्पति श्री वियोगी हरिजी एक भावुक भक्त, कवि एवं गद्य-काव्यकार हैं। इनका जन्म सन् १८९६ ई० में छतरपुर रियासत में हुआ। आपका असली नाम हरिप्रसाद द्विवेदी है, किन्तु आप

अपने उपनाम से ही अधिक विख्यात है। आप त्याग एवं सेवा की मूर्ति है। आपने अछूनों के आन्दोलनो में सदा सक्रिय रूप से भाग लिया है और हरिजन-आश्रम, दिल्ली मे रहकर प्रशसनीय कार्य कर रहे है।

वियोगी हरिजी हिन्दी के अनन्य सेवक है—गद्य-पद्य दोनो क्षेत्रों के प्रतिभावान् लेखक है। 'वीर-सतसई' पर आपको 'मगलाप्रसाद पारितोषिक मिल चुका है। भक्ति से निकले हुए भावुक उद्गार आपके गद्य मे प्रवाहित होते दृष्टिगोचर होते है। आपका गद्य सानुप्रास कवितामय है। इनकी भाषा विषयानुवर्तिनी है, व्यजना को सुन्दर बनाने मे सस्कृत तत्सम शब्दों की अधिकता हो गई है तथा भाषा को सरस और चपल बनाने के लिए उर्दू शब्दों तथा मुहावरो का प्रयोग भी अधिकता से हुआ है। भावानुभूति मे सचाई के कारण आपकी शैली मे सर्वत्र ओज, प्रभविष्णुता तथा बल पाया जाता है।

हरिजी अपने भावमय गद्य-गीतो के लिए विशेष प्रसिद्ध है। ये गीत, व्यग्यपूर्ण होते है। 'अन्तर्नाद', 'प्रार्थना', 'प्रेम-योग', 'साहित्य-विहार', आदि आपके गद्य-काव्य-सग्रह है। 'वीर-सतसई' ब्रजभाषा मे लिखे हुए ७०० दोहों का वीर-काव्य है और 'ब्रज-माधुरीसार' इनका सुसम्पादित ब्रजभाषा-काव्य-सग्रह है।

आप हिन्दी के कट्टर पक्षपाती है। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कराची-अधिवेशन के आप सभापति रह चुके है, और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने आपको साहित्य-वाचस्पति की उपाधि से भी विभूषित किया है।

**"अरे भैया, घड़ी भर विश्राम तो कर ले। इस पेड़ की डाल पर अपनी पोटली टाँग दे, और बैठकर दो घूँट ठंडा पानी पी ले। कहाँ से आ रहा है, भैया!? पसीने से लथपथ हो रहा है। साँस पेट में नहीं समाती। पैर सूज गये हैं। कलेजा भूख के**

मारे मुँह को आ रहा है। अभी और कहाँ तक जाना है, भाई ?"

"क्या पूछते हो ! कुछ पता नहीं, कहाँ तक जाना है।"

"ऐं। यह कैसी बात ! कुछ पता नहीं।"

"हाँ भाई, कुछ पता नहीं। चलते-चलते, न जाने, कितने दिन हो गये, पर अभी तक मुझे यह मालूम नहीं कि मैं किधर जा रहा हूँ। अनेक नगर, गाँव, खेड़े, नदी, नाले, पहाड़, टीले, जंगल पार करके जब मैं आगे नजर फेंकता हूँ, तब अनन्त क्षितिज-रेखा ज्यों की त्यों ही दिखाई देती है ! कभी-कभी तो मैं जहाँ से चलता हूँ, वहीं फिर घूम-घामकर आ पहुँचता हूँ। कोई मुझे मेरा पता भी ठीक-ठीक नहीं बतलाता। संगी-साथी भी अब तक कोई मन का नहीं मिला। गठरी के बोझ के मारे गर्दन झुक गई है, सिर फटा जाता है। टेकने की लाठी भी गिर जाती है। बड़ी आफत है। क्या करूँ—क्या न करूँ ?"

"इस पोटली में क्या-क्या है ?"

"सुनकर हँसोगे। सिवा कंकड़-पत्थर के रखा ही क्या है ?"

"तो फेंक क्यों नहीं देते ?"

"कैसे फेंक दूँ ? लालच बुरी बला है। लोग कहते हैं कि एक दिन कंकड़-पत्थर हीरे-मोती हो जायँगे। राम जाने, उनकी इस भविष्यवाणी में कहाँ तक तथ्य है ?"

"तो क्या तुम इन्हीं हीरे-मोतियों की टोह में बावले बने घूम रहे हो ? अजीब आदमी हो ! इन कंकड़-पत्थरों को फेंक-फाँककर उस सच्चे हीरे की खोज क्यों नहीं करते, जिसे पाकर तुम्हारी सारी यात्रा सफल हो जायगी ?"

"तेरा हीरा हेराइगा कचरे में"—यह विराग भरी स्वरावली कहीं से प्रताड़ित हो हम लोगों के कानों में गूँजने लगी।

पथिक ने उस गान को सुनकर पूछा—

"क्यों भाई। तुम मुझसे इसी हीरे के खोजने के लिए कहते थे? यह हीरा कहाँ मिलेगा?"

"तुम्हारी इसी फटी-पुरानी गुदड़ी में कहीं छिपा होगा। उसके लिए तुम्हें पूरब-पश्चिम न भटकना पड़ेगा। अहा! उस हीरे की दमक हजारों सूर्य और चन्द्र के प्रकाश से कहीं बढ़कर है। उसका जौहर हर एक नहीं जानता। लाख क्या करोड़ में कहीं उसका एक जौहरी मिलेगा"

"इस फटी-पुरानी गुदड़ी में! फिर दिखाई क्यों नहीं देता?"

"धूल-भरा है न?"

"फिर कैसे दिखाई देगा?"

"दृष्टि निर्मल करो। दिव्य दृष्टि से उसका दर्शन होगा। दिव्य दृष्टि का अंजन तुम्हें इस वृक्ष के नीचे ही मिल जायगा। धीरज धरो, पथिक! बहुत भटक चुके, अब चलने-फिरने की जरूरत नहीं। तुम चाहोगे तो वह हीरा इसी क्षण मिल जायगा।"

पथिक की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी और उसकी सफेद दाढ़ी पर से मोती जैसी बूँदें टपक पड़ीं।

## अभ्यास के लिए

(१) परिश्रान्त पथिक का भावार्थ स्पष्ट कीजिए।

(२) परिश्रान्त पथिक, कंकड़-पत्थर, फटी-पुरानी गुदड़ी और हीरा आदि का वास्तविक अर्थ क्या है?

(३) ईश्वर को याद करने के लिए किस वस्तु की आवश्यकता है?

(४) वियोगी हरिजी का परिचय बतलाइए और उनकी लेखन-शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

# टिप्पणी

## १—संदेश

नैसर्गिक—प्राकृतिक। निर्वीर्यता—कायरता। रस—साहित्य में प्रतिष्ठित नव रस, श्रृंगार, हास्य, करुण, अद्भुत, वीर, भयानक, रौद्र, वीभत्स व शान्ति।

संचारीभाव—जो भाव रस के संचार में सहायक होकर लुप्त होते रहते हैं। विभाव—जिनसे रस की उत्पत्ति होती है अर्थात् रस की उत्पत्ति के कारण। अनुभाव—वे शारीरिक प्रक्रियाएँ जो रसोत्पत्ति के साथ-साथ स्वतः होने लगती हैं। प्रतिभा—कवि या लेखक की ईश्वर-दत्त शक्ति। आकाश-मार्गगामी कवि—श्रेष्ठ कल्पना द्वारा लोकोत्तर आनन्द का विधायक।

## २—२६ जनवरी

डाक्टर द्विवेदी ने इस लेख में भारतीय इतिहास में २६ जनवरी के महत्त्व की ओर ध्यान दिलाते हुए सच्चे चरित्रबल की ओर संकेत किया है।

२६ जनवरी—भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध पूर्ण स्वतंत्रता-दिवस। विदीर्ण करना—चीर डालना। बुद्धिविलास—कोरी बुद्धि की क्रियाएँ। जितेन्द्रियता—अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना। अदीन—स्वतन्त्र तथा सबल। जनता-जनार्दन—जनता की शक्ति को ईश्वर की शक्ति मानना और जनता के स्वर को ईश्वर का स्वर समझना—अर्थात् जनता ही को ईश्वर का रूप समझना।

## ३ - समाज और धर्म

प्रस्तुत लेख में माननीय सम्पूर्णानन्दजी ने समाज की दृष्टि से धर्म की बड़ी ही समीचीन व्याख्या की है तथा सामाजिक जीवन में धर्म का महत्त्व प्रतिपादित किया है।

गूलर का फूल होना—अप्राप्य, जिसकी प्राप्ति असम्भव हो। युयुत्सु-प्रकृति—लड़ाकू स्वभाव।

मुमुक्षा—मुक्ति पाने की इच्छा। सव्यूहन—संगठन, निर्माण। अन्ताराष्ट्रिय—(अन्तर्राष्ट्रीय) विभिन्न राष्ट्र-सम्बन्धी। निर्बाध—बिना रुकावट के। यथेच्छ—इच्छा के अनुसार। प्रपीड़न—बहुत अधिक कष्ट देना।

## ४—दाँत

प० प्रतापनारायण मिश्र का यह लेख 'दाँत' पर अत्यन्त विनोदपूर्ण शैली मे लिखा गया है। इसमे दाँत का सम्बन्ध समस्त रसो से स्थापित किया गया है। साथ ही दाँतो की विभिन्न अवस्थाओ की कल्पना बडी सुन्दर है और उनसे बननेवाले मुहाविरो का भी सुन्दर प्रयोग किया गया है।

पाकशास्त्र के छहों रस—कटु, अम्ल, तिक्त, कषाय, मधुर और लवण। काव्यशास्त्र के नव रस—शृगार, हास्य, वीर, करुण, रौद्र, अद्भुत, वीभत्स, भयानक और शान्त। शकराचार्य—अद्वैतवाद सिद्धान्त के प्रतिपादक। 'स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ता केशा नखा नरा'—केश, दाँत, नाखून और मनुष्य, ये अपने स्थान से अलग होकर शोभित नही होते। दाँताकिलकिल—लडाई-झगडा। महिम्न—शिवजी का एक प्रधान स्तोत्र। हिजो करना—नीचा दिखाना, या निन्दा करना।

## ५—सच्ची नागरिकता

इस लेख मे श्रीप्रकाशजी ने साधारण भारतीय नागरिक के दोषो का चित्र खीचकर सच्ची नागरिकता के कर्त्तव्यो की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

दलदल मे फँसना—अधिक कठिनाइयों मे फँसते जाना। सकुचित—सीमित। अकर्मण्यता—कर्मों के प्रति उदासीनता, आलस्य। अस्पृश्यता—छुआछूत। समदृष्टि—सबको बराबर समझना।

## ६—बातचीत

लेखक ने इस लेख मे बातचीत का महत्त्व एव उसकी विभिन्न शैलिया पर सुन्दर प्रकाश डाला है। वाक्शक्ति—बोलने की शक्ति। पुलपिट (अँगरेजी शब्द) सभामच। पुण्याहवाचन—स्वस्तिवाचन, मगलाचरण। नादीपाठ—नाटक के आरभ मे प्रबधको की ओर से मगलाचरण। राबिसन क्रूसो—एक पुस्तक का नायक जिसे दीर्घकाल तक एक निर्जन टापू मे रहना पडा। वही उसे फ्राइडे भी मिला जो उसका नौकर और साथी रहा। एडिसन—एक प्रसिद्ध अँगरेजी निबन्धकार। अँगूठी मे नग-सी जड़ जाना—दिल मे बैठ जाना। हमचुनी दीगरे नेस्त (फारसी कहावत) हमारे बराबर और कोई नही है। खोढे—घिसे, अधटूटे। बिचवई—मध्यस्थ। रसाभास—रग मे भग। बरकते—

निबाहते। अक्रम—असबद्ध। सोलहवी कला—सोलहवाँ हिस्सा। सोपान—सीढ़ी। यावत—सब।

## ७—साहित्योपासक

मुँशी प्रेमचन्दजी ने इस कहानी मे यह सिद्ध किया है कि साहित्यसेवा पूरी तपस्या है। गुमनामी—अप्रसिद्धि। तस्कीन—तसल्ली, सतोष। लाजिमी—आवश्यक। फाका—उपवास। बाँछे खिल गई—प्रसन्न हो गया। दाद—प्रशसा।

## ८—विजयादशमी

काका कालेलकर ने इस लेख मे विजयादशमी के ऐतिहासिक महत्त्व का वर्णन किया है।

समिधा—हवन या यज्ञ मे जलाने की लकडी। नवरात्रि—आश्विन मास के शुक्ल पक्ष के प्रथम नव दिन। समुद्रवलयाकित—जिसके चारो ओर ककण की भाँति समुद्र फैला हुआ है। जवारा—जौ के अकुर। षड्रिपु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। आर्यतत्त्व— (१) दुःख का अस्तित्व (२) दुख का कारण (३) दुख का निरोध (४) दुख-निरोध का उपाय।

अष्टागिक मार्ग—महात्मा बुद्ध के निर्वाण-प्राप्ति मे सहायक आठ साधन —

(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् सकल्प (३) सम्यक् वचन (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीव (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि।

चौदह विद्याएँ—चार वेद, छ वेदाग, पुराण, न्याय, मीमास तथा धर्मशास्त्र।

मार-विजय—सिद्धार्थ ने जब ज्ञान प्राप्त करने के लिए तप किया, तो कामदेव (मार) ने उन्हे डिगाने के लिए अनेक प्रलोभन तथा भय के दृश्य उपस्थित किये, किन्तु सिद्धार्थ विचलित न हुए। इसको मार-विजय कहते हैं।

महिषासुर—जगदम्बा दुर्गा पर एक दैत्य ने भैसे का रूप धरकर आक्रमण किया। इस कारण उस दैत्य का नाम महिषासुर पडा।

## ९—सूरदास

भग्नाश—जिसकी आशा पूर्ण न हुई हो। चौरासी वैष्णवों की वार्ता—यह गोकुलनाथजी का लिखा हुआ गद्य-ग्रंथ है जिसमें ८४ वैष्णव भक्तों की चर्चा है। भक्तमाल—नाभादास की बनाई पुस्तक जिसमें भक्तों का गुणगान है। दृष्टकूट—गूढ़ अर्थवाले पद। ज्ञानचक्षु मिले—ज्ञान-लाभ हुआ। मुक्तक—जिन पदों का सम्बन्ध एक दूसरे में न हो और जो अपने में ही पूर्ण हो, फुटकर। गेय—गाने योग्य। निरपेक्ष—जो किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता अथवा स्वतःपूर्ण। व्यंजना—अभिव्यक्ति, प्रकट करना। उपालंभ—उलहना। सूक्ष्मातिसूक्ष्म—बारीक से बारीक। अकृत्रिम—प्राकृतिक, स्वाभाविक। नवोन्मेषशालिनी—नई जागृति देनेवाली। संकीर्ण—संकुचित।

## १०—सच्चा धर्म

इस एकांकी नाटक में सच्चे सामाजिक कर्त्तव्य एवं धर्म का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

भक्ष्याभक्ष्य—खाने योग्य और न खाने योग्य। चौथेपन—वृद्धावस्था। इहलोक—यह संसार। मनसबदारी—मुगल दरबार में एक आदरणीय पद। सियासी—राजनीतिक।

## ११—तुलसीदास

आख्यान—कथा अथवा प्रबन्ध। मर्मस्पर्शी-स्थल—महत्त्वपूर्ण रसानुकूल अवसर जहाँ कवि की सहज अनुरक्ति होना आवश्यक हो। साक्षात्कार—प्रत्यक्ष अनुभव अथवा दर्शन। कोमल वृत्तियाँ—सुकुमार भावनाएँ। श्रीहत—कान्तिहीन। उत्कर्ष—चरम अवस्था। भायप-भगति—बड़े भाई के प्रति सहज अनुराग तथा श्रद्धा। उद्दीपन—रस की उत्पत्ति में सहायक कारण। आध्यात्मिक घटना—आध्यात्मिक महत्त्व से परिपूर्ण घटना। मानस—रामचरितमानस। पारदर्शी—सच्चे तत्त्वज्ञानी। दाम्पत्य रति—पति-पत्नी का प्रेम। वीरभोग्य वसुन्धरा—पृथ्वी वीरों द्वारा ही भोगी जाती है। विप्रलंभ शृंगार—वियोग शृंगार। उद्भावन—प्रकट करना। रावणत्व—घोर अत्याचार। रामत्व—समाजरक्षक, तत्त्वशील एवं शक्ति का प्रतीक।

## १२—रेडियम

इस लेख मे लेखक ने रेडियम की खोज तथा रेडियम के महत्त्व पर समुचित प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

अबाध रूप—निरतर, बिना रुके हुए। कालातर मे—कुछ समय बाद। छिन्न-भिन्न—टूट-फूटकर।

## १३—साहित्य की महत्ता

प्रस्तुत लेख मे आचार्य पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने साहित्य की परिभाषा, समाज एव साहित्य का सम्बन्ध तथा साहित्य की आवश्यकता आदि बातो का विशद विवेचन किया है।

कोष—भण्डार। श्रीसम्पन्नता—शोभा एव ऐश्वर्य। उत्कर्षापकर्ष—उन्नति और अवनति। अचिरात्—जल्दी ही। निष्क्रिय—क्रियाहीन, शिथिल। कालान्तर—कुछ काल के पश्चात्। उत्पादन—उत्पत्ति। आडम्बर—ढोग। उत्पाटन—विनाश। पुनरुत्थान—फिर से उन्नति करना। सवर्धन—वृद्धि। किबहुना—अधिक क्या कहे। आत्महन्ता—अपनी ही आत्मा का हनन करनेवाला। अनैसर्गिक—अप्राकृतिक। आच्छादन—आवरण।

## १४—हीरा और कोयला

राय कृष्णदास अपने 'हीरे' और कोयले' शीर्षक पाठ द्वारा यह सिद्ध करने को चेष्टा करते हे कि प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी उपयोगिता होती है। कोयले और हीरे मे कौन श्रेष्ठतर है यह कहना कठिन है; क्योकि समाज के लिए विभिन्न दृष्टियो से वे दोनो ही महत्त्वपूर्ण है।

दार्शनिकता—ज्ञान और नीति की बाते। सहोदर—सगा भाई। रमणीयता—सुन्दरता। कृत्रिम—बनावटी। कृत्रिमता—बनावटीपन। विनिमय—परिवर्तन। उत्कर्ष—बढती। विभूति—वैभव, ऐश्वर्य। लोक-यात्रा—ससार-यात्रा। निर्दिष्ट—निश्चित। अग्रज—बड़ा भाई। पारदर्शी—दूरदर्शी, अनुभवी। आलोक—प्रकाश।

## १५—कवि-सम्मेलन

उल्कापात—तारे का टूटना। गर्त—गड्ढा। उद्बोधन—जागृत् करना। सचेत करना। रसोपभोग—रस का आनन्द प्राप्त करना। स्वान्त.-सुखाय—अपनी आत्मा के सुख के लिए। मनस्तुष्टि—मानसिक संतोष

अथवा प्रसन्नता। भावसूक्ष्मता—भावों की बारीकी। उदात्त—श्रेष्ठ, उच्च। विरक्ति—उदासीनता, वैराग्य। अचपल—स्थिर। अमत्सर—अभिमान-रहित। मात्सर्य—अभिमान। निसृत—बाहर निकलना।

## १६—कवीन्द्र रवीन्द्र

श्री० गुलाबरायजी ने इस निबन्ध मे डा० रवीन्द्रनाथ का जीवन-चरित्र एव उनके साहित्य पर यथेष्ट प्रकाश डाला है।

एकेश्वरवाद—मुसलमानी पैगम्बरवाद एव भारतीय अद्वैतवाद से मिलता-जुलता एक वाद-विशेष, जिसके अनुसार ईश्वर एक है।

साम्यवाद—एक वाद-विशेष, जिसमे समाज के प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारो की समानता का प्रतिपादन किया जाता है।

नौकरशाही—जहाँ नौकरो को ही शासन के सब अधिकार हो।

विहाग राग—एक राग-विशेष, जो रात्रि मे गाया जाता है।

शान्ति-निकेतन—बोलपुर मे स्थित एक स्थान-विशेष, जहाँ विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'विश्व-भारती' की स्थापना की है।

नोबेल पुरस्कार—इसके सम्थापक अल्फ्रेड बर्नहार्ड नोबेल नामक स्वीडिश सज्जन थे। ये प्रसिद्ध रासायनिक थे। इनका जन्म सन् १८३३ मे तथा मृत्यु १८९६ में हुई थी। इन्होंने २० लाख पौड की रकम साहित्य आदि पाँच भिन्न-भिन्न पुरस्कारो की स्थापना के निमित्त अर्पण कर दी थी। प्रतिवर्ष ये पुरस्कार ससार के सर्वोत्तम नियत विषयो के लेखको को प्रदान किए जाते है।

रुडयर्ड किपलिग—इंगलैड का एक प्रसिद्ध, आधुनिक, राष्ट्रीय कवि, नोबेल पुरस्कार का विजेता। आध्यात्मिकता—आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की ओर मन का झुकाव।

## १७—मधूलिका

श्री जयशकर प्रसाद ने इस कहानी में प्रेम तथा कर्त्तव्य का सघर्ष दिखाकर प्रेम पर कर्त्तव्य की विजय दिखाई है।

निरभ्र—बादल रहित। स्वस्त्ययन—मगल पाठ। कौशेय—रेशमी। निस्पन्द—गति-रहित। उपकरण—साधन, सामग्री। विडम्बना—भाग्य का उपहास। गह्वर—गड्ढा, गुफा। प्रकोष्ठ—कमरा। उल्काधारी—मशाले हाथ मे लिये हुए। आलोक—प्रकाश। आततायी—अत्याचारी।

## १८—राष्ट्रमाता की एक झलक

प्रस्तुत लेख में कस्तूर बा के व्यक्तित्व एव उनके सौम्य चरित्र पर प्रकाश डाला गया है।

स्फूर्ति—फुर्ती, क्रियाशीलता। स्तर—धरातल। ऊर्ध्वगामी—उन्नतिशील, ऊपर उठनेवाला। जान्हवी—गगा।

## १९—काश्मीर-यात्रा

कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने 'काश्मीर की यात्रा' पाठ मे काश्मीर के मार्ग का, उसके प्राकृतिक सौन्दर्य का, वहाँ के निवासियो तथा दर्शको का, शालामार और निशात बागो का अत्यन्त कवित्वपूर्ण एव मनोरम शैली मे वर्णन किया है। उनका यह सस्मरण बड़ा ही रोचक एव भावापन्न है।

नि स्तब्ध—शान्त, चुपचाप। सफेदा—एक लबा वृक्ष। दिग्भ्रान्ति—दिशाभ्रम। नि स्पन्दता—शान्ति। अविरल—घने, लगातार। पृथ्वी अश्रुमुखी दिखाई देती है—चारो ओर से झरनो का दृश्य। मीलित—बन्द। नीलाभ—नीली आभा से युक्त। जलयान—नाव। स्मित—हँसी। रूपसियो—सुन्दरियो। भंगिमामय—चपल। पारस्य—फारस। अजस्र-प्रवाहिनी—सदैव बहती रहनेवाली। लास—एक प्रकार का नृत्य, जो विलास के समय नाचा जाता है। हमारे....बना दिया—इस असख्य सरिताओ के देश मे हिन्दुओ ने नही वरन् केवल मुसलमान बादशाहो ने ही जल को बन्दी बनाकर फव्वारे बनवाये। निर्वेद—उदासीनता, शान्ति। अन्त.पुर—जनानखान।। आराधक—जो आराधना करे। आराध्य—जिसकी आराधना की जाय। व्रण—फोडा, घाव।

## २०—परिश्रान्त पथिक

वियोगी हरि का यह एक सुन्दर गद्य-काव्य है। यह एक सुन्दर आध्यात्मिक अन्योक्ति है जिसमे लौकिक वस्तुओ के सहारे अध्यात्म पक्ष का निरूपण बडी कुशलता से किया गया है। जन्म-जन्मान्तर के चक्कर मे पडकर मनुष्य की जीवात्मा परिश्रान्त है, फिर भी वह सासारिक बोझीली वस्तुओ (ककड-पत्थर) के लालच को छोड नही पाती और अपनी जीर्ण-शीर्ण गुदडी (शरीर) मे उन्हे सार वस्तु समझ बड़ी आशा से सँभालकर रखती है। मनुष्य यह नही समझता कि दिव्य दृष्टि से ही ईश्वरीय हीरा पहचाना जाता है।

कचरा—कूडा। तथ्य—वास्तविकता। विरागभरी—उदासीन वृत्तिवाली। दिव्य—देवताओ ऐसी, श्रेष्ठ, सात्विक।